धर्मरथ

अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरुशङ्कराचार्य

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज

(गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस में वर्णित धर्मरथ पर सारगर्भित प्रवचन)

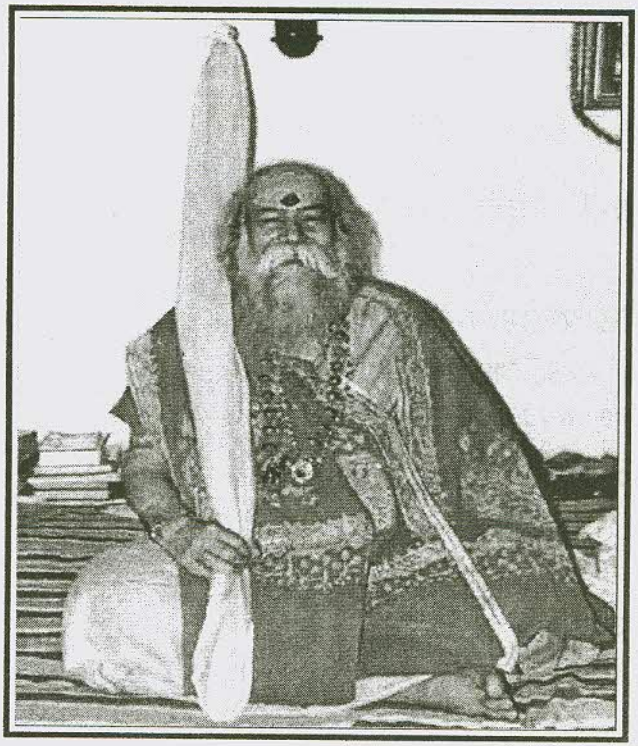

प्रकाशक

स्वामी सदानन्द सरस्वती

शारदापीठ प्रकाशनम्

द्वारका-361335, जामनगर, गुजरात

दूरभाष : 02892-235109

धर्मरथ

अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरुशङ्कराचार्य

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज

(गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस में वर्णित
धर्मरथ पर सारगर्भित प्रवचन)

सर्वाधिकार प्रकाशनाधीन

प्रथम आवृत्ति ३००० प्रतियाँ

वसन्त पञ्चमी - संवत् २०६२

प्रकाशक

शारदापीठ प्रकाशनम्

द्वारका-361335, जामनगर, गुजरात

दूरभाष : 02892-235109

मूल्य : 50 रूपये

मुद्रक

अम्बिका आफसेट्

मीठापुर-361 345.

प्राप्तिस्थान :

1. श्रीशारदापीठ, द्वारका, जामनगर, गुजरात । दूरभाष : 02892-235109
2. परमहंसीगंगाआश्रम, ज्योतेश्वर, म.प्र. । दूरभाष : 07794-285210
3. श्रीविद्यामठ, केदारघाट, वाराणसी, उ.प्र. । दूरभाष : 0542-2450520
4. श्रीमाता साहित्य सदन, केदारघाट, वाराणसी । दूरभाष : 0542-2275272

प्रस्तावना

'धर्मरथ' नामक प्रकृत ग्रन्थ द्विपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामीश्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज के मुखारविन्द से निःसृत वाक् सुधा का सार संग्रह है । धर्मरथ के तत्पुरुष और बहुब्रीहिपूर्वक दो अर्थ किये जा सकते हैं - पहला, धर्म का रथ और दूसरा, धर्म ही है रथ जिसका । इस प्रकार यहाँ दोनों ही स्थितियों में धर्म की महत्ता को रेखाङ्कित किया गया है, क्योंकि यह भारतीय सनातन चिन्तन में वर्णित पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रथम पुरुषार्थ है और अर्थ एवं काम नामक पुरुषार्थ भी इसी से संवलित होने के कारण शास्त्रसम्मत एवं सन्तुलित स्वरूप ग्रहण कर पाते हैं । यह लोक को धारण करता है और लोक इसे धारण करता है; तभी तो ये दोनों एक दूसरे के रक्षक बनकर सृष्टि को अविच्छिन्नता प्रदान करते हैं - धर्मो रक्षति रक्षितः । अन्यथा धर्म के नियंत्रण से रहित अर्थोपार्जन व ऐसे अर्जित अर्थ से काम की पूर्त्ति करने वाले व्यक्ति का मार्ग मोक्ष की दिशा से विरत हो जाता है । क्योंकि इससे विश्व का आर्थिक सन्तुलन बिगड़ जाता है । 'काम' की सिद्धि वासना की पूर्ति का स्वरूप धारण कर लेती है । शास्त्र का मत है कि शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए साधन की पवित्रता भी उतनी ही आवश्यक है । ध्यातव्य है कि चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते यह जीव जाने कितने समय बाद मानव का शरीर पा सका है । जिसे कर्म और भोग दोनों का अधिकार प्राप्त है । यदि इस शरीर से 'मोक्ष' न मिला, तो फिर जाने कब ऐसा सुअवसर अपने को मिलेगा । ऐसी स्थिति में 'अर्थ' और 'काम' की सिद्धि में यदि 'धर्म' का

सहयोग नहीं लिया गया, तो पुनः पतन सुनिश्चित है । इसलिए रामचरितमानस में भगवान् राम ने विभीषण को 'धर्मरथ' का उपदेश दिया है ।

अनन्तकाल से ऋषियों ने 'धर्म' के असंख्य अर्थ किये हैं । जैसे - कर्तव्य, जाति, सम्प्रदायादि के आचार-पालन, कानून, प्रचलन, प्रथा, अध्यादेश, नैतिकगुण, उपकार, सत्कार्य, अधिकार, न्याय, औचित्य, निष्पक्षता, पवित्रता, शालीनता, नैतिकता, नीतिशास्त्र, स्वभाव, चरित्र, मूलगुण, विशेषता, लाक्षणिक गुण, यज्ञ, सत्संग, भक्ति, रीति, धार्मिक भावमग्नता, उपनिषद्, युधिष्ठिर व यमराज आदि ।[१] इसीप्रकार इन अर्थों के अनुरूप मनीषियों ने धर्म के अनेक लक्षण भी किये हैं । यथा -

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। - इति मनुस्मृतिः ।
श्रुतेर्विभिन्ना स्मृतयोर्विभिन्नाः नैकोमुनिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्यतत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतस्स पन्थाः ।।
- इति महाभारते ।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।
चोदना लक्षणोऽर्थोधर्मः इति मीमांसायाम् ।
परहित सरिस धरम नहिं भाई । परपीडा सम नहिं अधमाई ।।
- रामचरितमानस

जहाँ तक इसकी उपयोगिता का प्रश्न है । इस सन्दर्भ में विद्वानों का मत है कि मानव का सहयोग और साहचर्य संसार के सभी सम्बन्धी एक निश्चित समय और सीमा तक ही कर पाते हैं । किन्तु जहाँ उनकी सीमा खत्म हो जाती है, वहाँ से परलोक तक विभिन्न रूपों में धर्म ही जीव का

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश - वामनशिवराम आप्टे

साथ देता है । यहाँ तक कि धर्मराज युधिष्ठिर का साथ धर्म ने हिमालय की यात्रा में श्वान के रूप में दिया था । शास्त्रकार कहते हैं -

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।।

यह वह तत्त्व है जो मनुष्य को पशुता से पृथक् करता है -

आहारनिद्राभयमैथनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

इसीप्रकार 'रथ' शब्द भी धर्म की ही भाँति गाड़ी, जलूसी गाड़ी, यान और वाहन आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । कठोपनिषद् में रथरूपक के अन्तर्गत शरीर को रथ के रूप में स्वीकार किया गया है -

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरम् रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।

किन्तु विचारणीय है कि यहाँ 'धर्मरथ' की पृष्ठभूमि उसीप्रकार की है, जैसे श्रीमद्भगवद्गीता की है । जिसप्रकार महाभारत के युद्ध में अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से प्रश्न करते हैं और भगवान् उनके उत्तर देते हैं । उसीप्रकार यहाँ लंका के अन्तर्गत राम-रावण-युद्ध के समय विभीषण भगवान् राम से प्रश्न करते हैं कि -

रावन रथी विरथ रघुवीरा । देखि विभीषन भयउ अधीरा ।।

× × × × ×

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना । केहि विधि जितब बीर बलवाना ।।

इस प्रश्न के उत्तर में दशरथानन्दवर्धन आनन्दकन्द मर्यादा पुरुषोत्तम लोकाभिराम राजीवनयन किन्तु रणरंगधीर भगवान् राम विभीषण की शंकाओं का समाधान करते हुए कहते हैं कि हे सखा विभीषण जी ! संसाररूपी रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए जिस रथ की आवश्यकता है । वह रथ वह नहीं है जो रावण के पास है, वह तो कुछ दूसरे प्रकार का ही है,

जिसका स्वरूप इस प्रकार है -

जिस रथ में शौर्य और धैर्य के चक्र, सत्य एवं शील की दृढ़ ध्वजा, बल, विवेक, दम और परोपकार के घोड़े, क्षमा, कृपा व समता की रस्सियाँ, भगवद्भक्ति का सारथि, वैराग्य का ढाल, सन्तोष का कृपाण, दान का परसु (पौरुष), बुद्धि की शक्ति, ज्ञान का धनुष, निर्मल व निश्चल मन का त्रोण, शान्ति, यम-नियमादि के बाण तथा विप्र व गुरु की पूजा के अभेद्य कवच हों, ऐसे रथ ही विजय के अचूक व सफल साधन बनते हैं एतदितर अन्य कोई नहीं ।

इस तथ्य को और अधिक सुस्पष्ट करते हुए भगवान् के मुख से गोस्वामी तुलसीदासजी कहलाते हैं कि हे विभीषण! यह संसार रिपु अत्यजेय है । इसे जो जीत सके, वही वीर है । किन्तु इससे प्रत्येक व्यक्ति विजय नहीं प्राप्त कर सकता । इसपर तो विजय वही प्राप्त कर सकता है, जिसके पास यह विलक्षण रथ हो ।

प्रवचन शैली के इस ग्रन्थ में 'धर्मरथ' नामक विषय को, सुस्पष्टतया समझाने के लिए पूज्य गुरुदेव ने अनेक दृष्टान्तों, सूक्तियों, सिद्धान्तवाक्यों, श्लोकों, लक्षणा, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, अज्ञान, अधिकारी, महावाक्यों, सृष्टि, संहार, पञ्चीकरण, अविद्या, मुक्ति, मुद्रा, धर्मरथ के १८ अंगों, षट्सम्पत्तियों, निर्विकल्पक और सविकल्पक समाधियों, 'वासुदेव' एवं 'गुरु' सदृश शब्दों के निर्वचन तथा असंख्य दोहे, चौपाइयों का उपयोग किया है । जिसके द्वारा कहीं शल्य व कर्ण के सारथित्व व रथीत्व का प्रतिपादन किया गया है, तो कहीं कृपण और सुई, कृपण सेठ और मिट्टी की गाय के उदाहरणों से दानशीलता को प्रेरित किया गया है । कहीं अकबर-वीरबल की कहानी से वीरबल की बुद्धिमत्ता और नेवला-सर्प की कथा से कर्मयोग की अप्रतिहतता का प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है, तो कहीं समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी

के दृष्टान्त से प्रारब्ध की बलवत्ता प्रमाणित होती है । इसीप्रकार वृक्ष की शाखा पर स्थित होते हुए नदी में प्रतिबिम्बित मणि के द्वारा कहीं सैद्धान्तिक सन्निरूपण दर्शनीय है । तो कहीं इस ग्रन्थ में दस-योगियों की कथा से आत्मज्ञान व चिज्जडग्रन्थि विवेचित है और कहीं आवरण-विक्षेप-शक्तियों, अध्यारोपापवाद, शरीर की नश्वरता, वृद्धावस्था का दु:ख, अन्वय-व्यतिरेक, अन्नमयादिकोष, ज्ञान के प्राधान्य, भवितव्यता की प्रमुखता, चार महावाक्यों की प्रस्तुति, राम के स्वरूप, गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश की फलप्रदता, रामवनगमन, अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, साधन चतुष्टय, मुमुक्षु तथा स्थिप्रज्ञ के वर्णन देखे जा सकते हैं ।

रामवनगमन के अवसर पर ग्राम वधूटियों को श्रुतियाँ, राम को ब्रह्म, सीता को विद्या एवं लक्ष्मण को जीव के रूप में रूपायित करते हुए अन्त में गुरुदेव ने गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या को श्रोताओं के समक्ष सन्निरूपित कर दिया है । यथा -

जो सपनेहुँ सिर काटइ कोई । विनु जागे दु:ख दूर न होई ।।
जासु कृपा सो भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ।।

इस प्रकार संक्षेप में सत्संग, वास्तविक महात्मा की दुर्लभता के प्रतिपादन के साथ-साथ जगद्गुरु जी महाराज ने गुरु-शिष्य-संवाद में गाड़ी, मजिस्ट्रेट और चोर आदि दृष्टान्तों के द्वारा स्वानुभूत तथ्यों की उपास्थापनाकर भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त श्रोताओं के लिए विषय को अत्यन्त सरल बना दिया है ।

इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय की उपास्थापना हेतु पूज्य गुरुजी के प्रवचनों के ७ कैसेट्स परमादरणीया सुश्री ज्ञानादेवी जी (दीदी जी) ने शारदापीठ विद्यासभा के परम गुरुभक्त मन्त्री दण्डी स्वामी श्री सदानन्द सरस्वतीजी को सुलभ कराकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो अपूर्व योगदान

किया, हम सभी शिष्यगण आजीवन सम्मान्या दीदी जी के सतत सपरिवार आभारी रहेगें । एतदतिरिक्त जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी महाराज के निजी सचिव पूज्य श्री सुबुद्धानन्द ब्रह्मचारी जी एवं विद्यासभा के स्वनाम धन्य ट्रस्टी व श्रीविद्यामठ, काशी के प्रभारी दण्डी स्वामी श्री अविमुक्तेश्वरानन्द सरस्वती जी के अभूतपूर्व सहयोग को भला कैसे विस्मृत किया जा सकता है क्योंकि धर्म-रथ को प्रस्तुत स्वरूप में लाने के लिए आप सभी का उत्कट प्रोत्साहन रहा है ।

और अन्त में पूज्य गुरुजी के पादपद्मों में साष्टांग प्रणाम करते हुए तथा पूज्यपाद के परमप्रिय शिष्य कर्मयोगी, ज्ञानी व भगवती त्रिपुरसुन्दरी के परमभक्त दण्डी स्वामी श्री सदानन्द सरस्वती जी ने प्रकृत ग्रन्थरत्न की भूमिका लिखने के लिए मुझे जो अवसर प्रदान किया, उसके लिए आपके चरणों में भी प्रणति निवेदन पूर्वक भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि 'धर्मरथ' नामक ग्रन्थ हमारे गुरुपरिवार किंवा समस्त मानवजाति का उद्धार करे, जिससे सम्पादक जी का यह प्रयत्न सार्थक सिद्ध हो सके ।

विदुषां वशंवदः

महामहोपाध्याय **जयप्रकाश नारायण द्विवेदी**

निदेशक - द्वारकाधीश संस्कृत अकादमी, द्वारका

धर्मरथ

चातुर्मास्य के सिलसिले में जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी महाराज ने कलकत्ते में प्रवास किया और उसी दरम्यान तीन दिन यहाँ प्रवचन देकर हमारे ऊपर बड़ी कृपा की । ईश्वर की कृपा से कुछ ऐसा संयोग बना कि हमारे सौभाग्यवश इस वर्ष भी पुन: आपका प्रवास चतुर्मास्य के सिलसिले में कलकत्ते में ही हुआ । मैं कहना चाहता हूँ कि कलकत्ते में आपके प्रवास से एक अजीब तरह की लहर रहती है, एक विचित्र लहर रहती है और खासकर धर्मप्रेमी जनता में बड़ा उत्साह रहता है आपके प्रवास करने से । यों तो जगद्गुरु का स्थान सर्वव्यापक है वह उत्तर हो या दक्षिण, पूर्व हो या पश्चिम । फिर भी मैं अपनी बात कहता हूँ, अपने लोगों की बात कहता हूँ कि यह कलकत्ते का सौभाग्य है कि प्रात: स्मरणीय जगद्गुरु आद्यशङ्कराचार्य का स्थान हमारे धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में देश की एकता और अखण्डता के लिए न केवल सदा अविस्मरणीय रहेगा बल्कि हमेशा प्रात:स्मरणीय भी रहेगा । उनका अपना स्थान हमेशा रहेगा और उसी में हमारी संस्कृति और धर्म को सुदृढ़ता मिलेगी । उसी परम्परा में जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज हमारे बीच आज उपस्थित हैं । आपका व्यक्तित्व, आपका अवदान, आपका कृतित्व कितना ओजस्वी है, कितना महान् है, इससे हम सब अवगत हैं । आपका रचनात्मक कार्यों में भी बहुत बड़ा योगदान है । धर्म के क्षेत्र में हमारे धर्मशास्त्रों पर आपका बहुत बड़ा अधिकार है और बड़ा ही सुन्दर सारगर्भित और हृदयग्राही विवेचन आपके द्वारा किये जाते हैं ।

हम आपके बहुत-बहुत आभारी हैं । संगीत कला मन्दिर ट्रस्ट, संगीत कला मन्दिर और हम सभी की प्रार्थना पर आपने रामचरितमानस के धर्मरथ

प्रसंग पर कुछ कहने का, कुछ विवेचन करने का अवसर दिया । मैंने कहा कुछ विवेचन इसलिए कि धर्मरथ प्रसंग अपनेआप में बहुत बड़ा है । अगाह है, अथाह है तो उसी प्रकार हमारे पूज्य स्वामीजी महाराज भी उतने ही अगाह और अथाह हैं । चार दिनों का समय, स्वामीजी जैसे वक्ता के लिए कुछ भी नहीं है, फिर भी हमें विश्वास है कि हम उसका यथेष्ट लाभ लेंगे ।

प्रात:काल का यह समय अपने-आप में बहुत महत्त्व रखता है । आज पन्द्रह अगस्त का दिन भी है । मेरा ऐसा विश्वास है कि प्रात:काल मन कुछ भिन्न रहता है । दिन में, सन्ध्या में मनुष्य कुछ भिन्न ही रहता है, लेकिन प्रात:काल मनुष्य कुछ और ही रहता है । दृश्य ऐसा है कि रावण और राम की सेनाएँ लंका में दोनों तरफ खड़ी हैं । विभीषण अधीर हो जाते हैं । रावण की सुसज्जा देखकर, घोड़ा देखकर, हाथी देखकर और उधर भगवान् राम के पास हाथी, घोड़े और रथ नहीं है, पैदल हैं । ऐसे में वह प्रश्न करते हैं, उनके मनमें शंका होती हैं और वह अधीर भी हो जाते हैं कि भला किस प्रकार राम रावण को जीत सकेगें । इस अवसर पर भगवान् राम ने विभीषण को जो उपदेश दिये, वह हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष के लिए महत्त्व रखते हैं । यहाँ स्वामीजी के वचन अपने-आप हृदय में उतरेंगे । अब पूज्य महाराजश्री से अनुरोध है कि अपनी अमृतमयी वाणी द्वारा हम सबको कृतार्थ करें ।

अध्यक्ष
जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वागत
समारोह समिति, कलकत्ता
(सन् १९८५ ई.)

प्रथम दिवस

उपस्थित विद्वत् बंधुओं, देवियों और सज्जनों,

धर्मरथ का प्रसंग आज से चलेगा । यह ऐसे अवसर का प्रसंग है, जब रावण अपने सुसज्जित रथ पर बैठकर भगवान् राम से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हुआ था । अध्यात्म रामायण में वर्णन आता है कि उसके रथ में पिशाचों जैसे मुखवाले गधे जुते हुए थे और विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से वह रथ सुसज्जित था । यही नहीं, उसके पीछे अनेकों भैंसागाड़ियों में विविध प्रकार के बाण और अस्त्र भरे चले आ रहे थे । इसप्रकार रावण राम से लड़ने के लिए आया । विभीषण राम के परम भक्त थे, अनुरक्त थे । यद्यपि उनको विश्वास था कि भगवान् राम समर्थ हैं और रावण उनपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता । फिर भी यह नियम है - जहाँ प्रेम होता है वहाँ अनिष्ट की आशंका अधिक होती है । विभीषण को भी अनिष्ट की आशंका इसलिए हो गयी कि उसने देखा भगवान् श्रीराम के शरीर पर न तो कवच है, न चरणों में चरणपादुका है और न ही रथ है। ये सीधे-सीधे रावण से लड़ने चले हैं बिना साधनों के रावण पर कैसे विजय प्राप्त करेंगे ? मन में उनके शङ्का आयी, एक प्रकार से उनका मन दुःखी हो गया, क्षुब्ध हो गया । ऐसे अवसर पर मन के उस क्षोभ को दूर करने का जो उपदेश होता है, वह गीता के समान हो जाता है और गीता में जिस प्रकार दोनों सेनाओं के मध्य भगवान् श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया, ज्ञान दिया उसीप्रकार का ज्ञान सर्वत्र गीतापद वाच्य होता है । इसलिए रामचरित मानस में, अध्यात्म रामायण में ऐसे उपदेशों को लक्ष्मणगीता, रामगीता के नाम पर कहा गया है ।

निषादराज गुह के शोक को दूर करने के लिए जो उपदेश दिया,

उसको लक्ष्मणगीता कहते हैं और लक्ष्मणजी के मन में जब शोक हुआ, मोह हुआ, तो उसकी निवृत्ति के लिए भगवान् राम ने लक्ष्मणजी को जो उपदेश दिया वह रामगीता कहलाती है । एक प्रकार से जहाँ भी दो सेनाओं के मध्य युद्ध के अवसर पर शोक, मोह उपस्थित होता है, वहाँ जो उपदेश दिया जाता है, वह गीता कहलाता है । एकप्रकार से धर्मरथ का प्रसंग भी गीता जैसा ही है । विभीषण के मन में शोक, मोह ही हो रहा है । राम की विजय के सम्बन्ध में उसे सन्देह हो गया है । उस सन्देह को अपने प्रेम के कारण वह भगवान् के सामने निष्कपट होकर व्यक्त करता है -

रावनु रथी विरथ रघुवीरा । देखि विभीषन भयऊ अधीरा ।।

विभीषण का यह प्रश्न है कि हे नाथ! न तो आपके पास रथ है, न आपके पास तन का त्राण (कवच) है, न ही चरणों का त्राण है और शत्रु अत्यधिक बलवान् है । रथ पर चढ़कर आया है, आप उसपर किस-प्रकार विजय प्राप्त कर सकेंगे । विभीषण रावण को शत्रु मानकर, रावण को अजेय समझकर राम की विजय की बात सोचता है और राम रावण को अजेय समझकर युद्ध करने नहीं आये । उनका उद्देश्य रावण पर विजय प्राप्त करना नहीं । इस धर्मरथ के प्रसंग से यह बात स्पष्ट होती है कि भगवान् राम ही तो कृष्ण हैं । उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि युद्ध करने से दोष नहीं आता । सुख-दुःख को समान करके लाभ-हानि, जय-पराजय से निवृत्त होकर तुम तैयार हो जाओ, तुम्हें पाप नहीं लगेगा । भगवान् रावण के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध करने नहीं जा रहे हैं अपितु अपना स्वधर्म पालन करने जा रहे हैं । जब कोई आततायी क्षत्रिय के सम्मुख आता है तब क्षत्रिय का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उससे युद्ध करे ।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ।।

जो नगर में, घर में अग्नि लगाये, जो विष दे, हाथ में शस्त्र लेकर

मारने आये, हमारे धन का अपहरण करे, धन और दारा का अपहरण करे ये छः आततायी होते हैं । उन आततायियों के साथ युद्ध करना क्षत्रियों का धर्म होता है । रावण आततायी है । राम की दारा का उसने अपहरण किया है इसलिए उसके साथ युद्ध करना उनका कर्तव्य हो गया है । इसलिए वे युद्ध कर रहे हैं । वस्तुतः हमारे शास्त्रों में यह बतलाया गया है कि मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करता है । स्वधर्म का अनुसरण करता है, आचरण करता है तो उसके कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है । उसके मोक्ष का साधन बनता है और वह कर्म ईश्वर की आराधना बन जाता है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम् येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिम् विन्दति मानवः ।।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने बतलाया है कि जिससे सारे संसार की प्रवृत्ति है, जिससे सारा संसार व्याप्त है, उस परमात्मा की अपने धर्म से पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है । यहाँ उसी बुद्धि से भगवान् युद्ध करने चले हैं । विभीषण के शङ्का करने पर भगवान् बड़े प्यार से सम्बोधित करते हुए विभीषण से कहते हैं कि -

सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहि जय होइ सो स्यंदन आना ।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।।
बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा दया समता रजु जोरे ।।
ईस भजन सारथी सुजाना । विरति चर्म संतोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । वर विग्यान कठिन कोदंडा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम यम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा । एहि सम विजय उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके । जीत न कहहु कतहु रिपु ताके ।।
महा अजय संसार रिपु, जीत सके सो वीर ।
जाके अस रथ होई दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर ।।

और भगवान् अंत में कहते हैं - महा अजय संसार रिपु जीति सके

तो जीत । विभीषण ! मेरा शत्रु सामने नहीं है । यह रावण शत्रु नहीं है, मैं जिस शत्रु से लड़ने चला हूँ वह संसार है, संसाररूपी रावण को तो तुम अजेय कहते हो, जिस शत्रु से मैं लड़ने चला हूँ वह महा अजेय है - उसका नाम है संसार । संसार क्या? संसार का अर्थ यहाँ पर विश्व नहीं है । विश्व को शत्रु मानना, विश्व के साथ द्रोह करना है । यह तो बड़ा अनुचित है और यह श्रेष्ठ पुरुषों का कार्य नहीं है । इसको तो घोर पाप माना जाता है । भगवान् स्वयं बतलाते हैं । मंदोदरी कहती है -

शरण गये प्रभु काहु न त्यागा । विश्व द्रोह कर अघ जेहि लागा।।

जिसको विश्वद्रोह का पाप लगा है, भगवान् उसका भी शरण में जाने पर परित्याग नहीं करते । यहाँ विश्व का अर्थ संसार नहीं संसरण अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जाना, अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर जीव बन जाना, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, अजर-अमर, अनन्त-अखंड सब प्रकार से समर्पित होते हुए भी सुखी-दु:खी संसारी अनेकानेक समझने लग जाना, इसी का नाम संसार है । भगवान् शङ्कराचार्य ने श्रीमद्भागवत के भाष्य में कहा है सांसारिकता क्या है? सुखी-दु:खी होना । कोई सुखी-दु:खी कब होता है? प्राणी जब अपने सहज स्वरूप, आनन्दस्वरूप से विस्मृत हो जाता है, भूल जाता है तो वह सुख-दु:ख में पड़ जाता है । दूसरा संसार का अर्थ यह है कि जब अपने वास्तविक स्वरूप को प्राणी भूल जाता है तो उसका मोह के प्रति संग हो जाता है, तो किसी के सत रज तम तीनों के ऊपर आसक्ति होने के कारण अनात्मा के धर्मों में स्वयं को आरोपित करके स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानने लगता है । जब कर्ता भोक्ता बन जाता है, तो कर्म के बन्धन में फँसकर अनेकों जन्म प्राप्त करता है । अनेकों सुख और दु:ख उसे भोगने पड़ते हैं, इसी का नाम संसार है । गोस्वामीजी ने बताया है कि -

ईश्वर अंश जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ।।
सो माया वश भयऊ गोसाई । बधेहु कीर मर्कट की नाई ।।
जड़ चेतनहिं की ग्रन्थि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई ।।

जबसे जड़ चेतन की गाँठ पड़ी है, तबसे यह जीव संसारी बना है । अर्थात् सुखी-दुःखी बन गया है । जन्म-मरण वाला बन गया है और जब तक कि यह जड़ चेतन की ग्रन्थि नहीं छूटेगी, तब तक इसका जन्म मरण का चक्र, सुख दुःख चक्र छूट नहीं सकता है । यदि उस संसाररूपी शत्रु को जीतना है तो उस संसाररूपी शत्रु को जीतें कैसे? भगवान् कहते हैं- उस संसाररूपी शत्रु को जीतने के लिए जैसे और शत्रुओं को जीतने के लिए रथ की आवश्यकता पड़ती है उसीप्रकार संसाररूपी शत्रु को जीतने के लिए रथ की आवश्यकता पड़ती है और वह रथ है धर्मरथ, स्वधर्म पालन उसका ढाँचा है, अठ्ठारह उसके अङ्ग हैं, ऐसे धर्मरथ पर बैठ कर ही संसाररूपी शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है । पहले भगवान् का विशेषण हुआ कृपानिधाना, भगवान् कृपानिधान से विभीषण ने ऐसे मौंके पर निराशा की बात कही है जिसको सुनकर कोई भी व्यक्ति क्रोधित हो सकता है । युद्ध करने के लिए कोई जाय और उसकी निर्बलता की ओर कोई ध्यान दिलावें तो उसे उसका तेजोवध होता है । उत्साह में कमी आती है । जब उत्साह में कमी आती है तो वह युद्ध ठीक से नहीं कर पाता । आप लोगों ने कथा सुनी होगी कि जब कर्ण को सेनापति बनाया गया तो कर्ण ने यह कहा कि मैं युद्ध में अर्जुन को पराजित कर दूँ लेकिन मुझमें और अर्जुन में एक अन्तर है । अर्जुन के पास कृष्ण जैसा सारथी है और मेरे पास सारथी नहीं है । यदि कृष्ण जैसा सारथी मुझे मिल जावें तो मैं निश्चितरूप से अर्जुन को पराजित कर सकता हूँ । तो दुर्योधन ने उससे पूछा कि तुम किसको योग्य समझते हो, किसको तुम्हारा सारथी बना दूँ । तो कर्ण बोला कि अगर शल्य मेरे सारथी बन जावें तो मैं निश्चितरूप से सफल हो सकता हूँ । शल्य मद्रदेश के राजा का पुत्र तथा तथा माद्री उनकी बहन थी । नकुल, सहदेव उनके भांजें थे । लेकिन घटना ऐसी घटी कि जब वे पांडवों की ओर से लड़ने के लिए चले तो दुर्योधन को पता चल गया गुप्तचरों से कि मद्रदेश के राजा शल्य पाण्डवों की ओर से लड़ने के लिए

आ रहे हैं । तो उन्होंने मार्ग में कई कैम्प बना दिये, शिविर बना दिये । शल्य का खूब स्वागत किया । अन्तिम कैम्प में स्वागत करने स्वयं दुर्योधन पहुँचा लेकिन छिपा रहा । जब उन्होंने भोजन किया तब प्रसन्न होकर कार्यकर्ताओं से पूछने लगे कि हमारी मामियों ने तुम्हारे लिए बहुत अच्छा प्रबन्ध किया तो दुर्योधन स्वयं सामने आ गया और बोला कि नहीं मामाजी यह सेवा तो हमने की है । तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ । कहने लगे कि आप क्या चाहते हैं ? मैं यह चाहता हूँ कि आप मेरी ओर से युद्ध करें । तो शल्य को दुर्योधन की ओर से खड़ा होना पड़ा, क्योंकि नमक जो खा लिया था । तो शल्य वैसे तो पाण्डवों की विजय चाहते थे । लेकिन उनको दुर्योधन की ओर से लड़ना पड़ रहा था। अब उनको जब सारथी बनने के लिए कहा गया तो शल्य बोले कि हम सारथी बन जायेंगे, आपकी ओर से लड़ ही रहे हैं तो सारथी बनने में क्या हर्ज हैं । परन्तु हमारी एक शर्त है, हमारे अपराधों को कर्ण क्षमा करेंगे । हम कुछ भी बोलें, उसपर ध्यान नहीं देंगे । न ही हमें उसका दण्ड देंगे । कर्ण ने कहा ठीक है । युद्ध होने लगा, कर्ण आवेश में आकर कहता है, देखों सारथि मेरा पौरुष देखो, शल्य कहता है सूतपुत्र! तुम अर्जुन से कभी नहीं जीत सकते । वह पृथा पुत्र है, वीर है । तेरी उसकी कोई बराबरी नहीं है । ऐसे शब्द कह देता था, तो कर्ण का उत्साह उसी समय मन्द पड़ जाता था । जहाँ कहीं संघर्ष हो, वहाँ ऐसे सारथी की आवश्यकता पड़ती है, जो हमारे उत्साह को बढ़ायें। उत्साह घटाने वाला तो पराजय की ओर ले जाता है । यहाँ जब विभीषण ने ऐसे अवसर पर बात कही कि आप कैसे जीतेगें, तो जहाँ विभीषण के ऊपर क्रोध आना चाहिए, वहाँ भगवान् कहते हैं -

सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।।

वह रथ दूसरा ही है, जिससे विजय प्राप्त होती है । ये जो रथ गधहों से जुते हुए, पिशाच मुख वाले हैं, इनसे विजय नहीं होती । फिर विभीषण ने पूछा महाराज वह रथ कौन सा है? कैसा रथ है? भगवान् कहते हैं, सुनो -

सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका ।।
बल विवेक दम परहित घोरे । छमा दया समता रजु जोरे ।।

वह रथ है, धर्मरथ । सौरज धीरज उस रथ के पहियें हैं । भगवान् श्रीराम के धर्मरथ में जितने भी अङ्ग हैं, वे सब विद्यमान हैं । भगवान् श्रीराम क्षत्रिय कुल में अवतरित हुए और क्षत्रिय का धर्म बतलाया है -

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।

शौर्य, तेज, दाक्ष्य, धृति और युद्ध से परान्मुख न होना, दान करना, ईश्वरभाव रखना, ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं । भगवान् कहते हैं कि जो रथ विजय दिलाने वाला है - उसके दो चक्र हैं - शौर्य और धैर्य । भगवान् श्रीराम में शौर्य इस प्रकार का है कि वे अकेले मारीच और सुबाहु की सेना को विश्वामित्र के यज्ञ में पराजित कर देते हैं । धैर्य इतना है कि कितने ही संकट आ जाये लेकिन उनका मन कभी विचलित नहीं होता, धर्म से हटता नहीं । वनवास के समय भगवान् को कितना ही उत्तेजित किया गया, परन्तु भगवान् ने अपना धैर्य नहीं खोया, अटल रहे, अपने सिद्धान्त पर । युद्ध में उसकी विजय होती है, जिसके रथ में शौर्य और धैर्य का चक्र हो और उसको खींचने के लिए चार घोडें हों -

सौरज धीरज रथ जेहि चाका । सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका ।।

ध्वजा, पताका प्राचीनकाल में इसलिए लगाये जाते थे कि दूर से ही देखा जा सके, कि रथी सकुशल है या नहीं । उसके ऊपर कोई विपत्ति तो नहीं आयी है । तो आप समझिये कि मनुष्य यदि धर्मरथ पर बैठा है तो उसकी कुशलता और धर्म में उसकी स्थिरता का यदि कोई लक्षण है तो सत्य और शील है । सत्य और शील का दूर से ही पता लग जाता है । सामान्यतया रथ के पास आने पर उसकी पहचान होती है परन्तु ध्वजा, पताका द्वारा दूर से ही पता लग जाता है । उसीप्रकार जिस मनुष्य के जीवन में सत्य और शील होता है, उसकी संसार में स्वाभाविक रूप से ख्याति हो

जाती है । भगवान् श्रीराम सत्यमय हैं । वे कभी सत्य से विचलित नहीं होते। महाराज दशरथ का मन विचलित हो गया । उन्होंने भगवान् राम को लौट आने को सुमन्त्र से अनुरोध करवाया, स्वयं किया, लेकिन भगवान् ने अपना सत्य नहीं छोड़ा । पिता के भी सत्य की रक्षा की । उनके स्वर्गवासी हो जाने पर भी उनके वचन को प्रमाण बनाया । भरत के अनुरोध करने पर भी वनगमन के निश्चय को बदला नहीं । इसलिए राम को सत्य संध कहते हैं और शील एक ऐसा गुण है, जिसमें मनुष्य के भीतर नम्रता होती है और सौहार्द होता है । जो भगवान् श्रीराम के भीतर सहज ही विद्यमान है । भगवान् राम के समान कोई शील-स्वामी नहीं है । भगवान् श्रीराम के शील का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि -

प्रभु तरुतर कपि डारि पर, देखहि आपु समान ।
तुलसी कहुं न राम से, साहिब शील निधान ।।

भगवान् वृक्ष के नीचे बैठे हैं और उनके सेवक वानर उस पेड़ पर पूँछ लटकाये बैठे हैं । यदि कोई स्वामी होता तो पूँछ पकड़-पकड़ कर नीचे करने लगता । लेकिन भगवान् उनकी तरफ ध्यान ही नहीं देते कि वह उनसे ऊपर बैठे हैं । सेवक ऊपर बैठे, स्वामी नीचे बैठे; यह कहाँ का नियम है । लेकिन भगवान् ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया । भगवान् जब पुष्पकविमान पर बैठकर वन से अयोध्या जाने लगे तो वानर भालुओं ने कहा - भगवन्! हम भी चलें? तो भगवान् ने कहा - अच्छा तुम भी चलो, ले गये । तो उन्होंने राजदरबार में भी जाने का आग्रह किया । भगवान् ने कहा राजदरबार में चलते हो, ठीक है, लेकिन वसिष्ठजी को प्रणाम करना पड़ेगा । वानरों ने कहा महाराज कैसे प्रणाम किया जाता है । भगवान् बोले दोनों पैरों से खड़े होकर दोनों हाथ जोड़े जाते हैं । वे तो चार पैर वाले हैं, आगे जो पैर थे उन्होंने उन्हें हाथ बना लिया ।

हे मुनिराज! ये मेरे सखा हैं । कोई कह सकता है, वानरों को सखा । लेकिन यह भगवान् का सुशील ही है कि उन्होंने उन वानरों को भी सखा

कहने में संकोच नहीं किया । अन्यथा जिस व्यक्ति का वैभव बढ़ जाता है, ऐश्वर्य बढ़ जाता है, प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, वह अपने पुराने मित्रों से मिलने में भी संकोच करता है और उनका परिचय तो कराता ही नहीं । किसी ऐसे व्यक्ति से जो प्रतिष्ठित हो, परन्तु भगवान् को जरा भी संकोच नहीं हुआ और उन्होंने कहा कि ये मेरे सखा हैं । भगवान् यह भी कह सकते थे कि ये मेरे सेवक हैं । लेकिन भगवान् ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं करते ।

यह सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भयऊ समर सागर के बेड़े ।।

युद्धरूपी समुद्र में इन्होंने बेड़े का काम किया । **मम हित लागि जनम इन्ह त्यागे ।** मेरे लिए इन्होंने अपना जन्म भी न्यौछावर कर दिया । जीवन अर्पित कर दिया । इसलिए -

भरतहुँ से तेहि प्रान पियारे ।

इसलिए ये भरत से भी कहीं अधिक प्रिय हैं । भाई के लिए समर्पित होना, भाई के लिए प्राण देना, स्वाभाविक है । लेकिन इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था फिर भी इन्होंने अपने जीवन का त्याग कर दिया । इसलिए भरत से कहीं अधिक ये मुझे प्यारे हैं । राज-समाज में भगवान् उन वानरों की बड़ाई करते हैं ।

प्रभु तरुतर कपि डारि पर, देखहि आपु समान ।
तुलसी कहुं न राम से, साहिब शील निधान ।।

एक ग्रन्थ में हमने पढ़ा था कि -

समस्त विरोधी गुणगणों के जो एकमात्र आश्रय हैं । भगवान् के उन गुणगणों में से एक सुशीलता है । सुशीलता की यहाँ परिभाषा की है । आश्रित का त्याग न करना, आश्रित के दोषों को देखकर उसका त्याग न करना । चन्द्रमा भगवान् शङ्कर के प्रियता को प्राप्त है, इसका अर्थ यह है कि अपने आश्रितों पर जो प्रभु हैं, वे इतनी कृपा रखते हैं कि उसके दोषों की ओर दृष्टिपात ही नहीं करते । यह भगवान् की सुशीलता है, आश्रित के दोषों को न देखना । **सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका ।** अब इस रथ में

घोड़े कौन से हैं -

बल विवेक दम परहित घोरे । छमा दया समता रजु जोरे ।।

बल, विवेक, दम, परहित ये घोड़े है और ये घोड़े रस्सियों से बँधे हैं। घोड़ों को नियन्त्रित करने के लिए रस्सी की आवश्यकता पड़ती है। उससे उन्हें बाँधा जाता है । वह रस्सी क्या है, क्षमा, दया, समता । अब यहाँ विचारणीय बात यह है कि घोडे तो चार हैं । प्राचीनकाल में जो रथ बनते थे, उनमें चक्र तो दो होते थे लेकिन घोड़े चार होते थे । घोड़े चार, रस्सी तीन - **छमा दया समता रजु जोरे, बल विवेक दम परहित घोरे।** प्रसंग आता है कि चार घोड़ों की क्या आवश्यकता है? एक ही घोड़ा रथ को खींच सकता है । वह घोड़ा है बल, बलरूपी घोड़े के द्वारा सौरज, धीरज चक्रों के द्वारा रथ खींचा जा सकता था । क्षमा, दया और समता नामके तीन घोड़े उसमें क्यों जोड़े गये और इस तरह का रथ तो रावण के पास भी हो सकता है । सौरज, धीरज और बल भी है तो बलरूपी घोड़े से उसका रथ खिंच रहा है । लेकिन और अङ्गों से वह नहीं । जिसमें केवल बल होता है - क्षमा, दया, समता नहीं होती, उसका बल अनर्थ का हेतु होता है । एक प्रसिद्ध श्लोक है -

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

खल कि विद्या विवाद के लिए होती है, खल यदि विद्वान् है तो वह दूसरों को शास्त्रार्थ में हराने की ही सोचता रहता है और खल के पास धन हो तो उससे वह मदमस्त हो जाता है, अभिमानी हो जाता है और यदि खल के पास शक्ति हो, बल हो तो वह दूसरों को पीड़ा पहुँचाने लग जाता है । दीन, हीनों, अन्धों, दुखियों को पीड़ा पहुँचाने लगता है । बल दीन और आश्रितों की रक्षा के लिए होता है । वाल्मिकीय रामायण में कथा आती है - भगवान् राम ने ऋषि मुनियों के कष्ट को सुना । ऋषि-मुनियों ने जब सुना, भगवान् श्रीराम आ रहे है तो जितने भी राक्षसों के द्वारा मारे गये

मुनियों की हड्डियाँ थी, उन सबका ढेर लगा कर भगवान् राम का ध्यान आकृष्ट किया । भगवान् ने पूछा कि यह दक्षिण में हिमालय पर्वत कैसे आ गया । ऋषि-मुनियों ने कहा भगवन् ! यह हिमालय पर्वत नहीं, यह ऋषि-मुनियों की हड्डियों की ढेर है ।

निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुवीर नयन जल छाए।।

ऋषि-मुनियों के हड्डियों का ढेर है, राक्षसों ने खाया है। यह देखकर भगवान् के आँखों में आँसू आ गये। उसी समय उन्होंने प्रतिज्ञा कर डाली कि-

निसिचर हीन करहुँ महि, भुज उठाय पन कीन्हि ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमहिं, जाइ जाइ सुख दीन्हि ।।

भगवान् ने कहा मैं इस धरती को निशाचरों से रहित कर दूँगा । ऐसी प्रतिज्ञा करके सभी मुनियों के आश्रमों में गये, गये भी तो नंगे पैर गये और उनसे कहा कि महाराज आप निश्चिन्त रहिये हम इन राक्षसों को दण्डित करेगें। हमारे रहते आपको चिन्तित, भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। जब ऋषि-मुनि चले गये, तो सीताजी बोली कि महाराज आपने यह क्या कर डाला। यह तो पिता की आज्ञा का उल्लंघन है । पिताजी ने कहा था कि उदासीन भाव से चौदह वर्ष वन में रहेंगे । आप तो निशाचरों को मारने की प्रतिज्ञा कर बैंठे । वस्तुत: आपने गलती यह की है कि जो अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये, ये आपके मन में हिंसा की भावना उत्पन्न करेंगे। आपको तो उदासीन भाव होने के कारण धनुष बाण धारण ही नहीं करने चाहिए ।

कथा यह है कि कोई मुनि थे । उनके यहाँ कोई तलवार गिरवी रख गया और चला गया । वे मुनि जहाँ भी जाते उसे साथ लेकर जाते । कि यह कहीं खो न जाय, छूट न जाय । बराबर तलवार रखने से उनके मन में भी हिंसा करने की भावना आ गयी और उनकी गति बिगड़ गयी । इसलिए धनुष बाण धारण करने से आपके मन में भी हिंसा की भावना आ गयी और आपने प्रतिज्ञा कर डाली, यह तो अनुचित हुआ और फिर सीताजी बोली कि आप ये समझते हैं कि यह मेरा कहना ठीक नहीं है, तो

आप मुझे समझाइये । भगवान् राम ने कहा क्षत्रिय शस्त्र इसलिए धारण करता है कि कोई अधर्म न करे । क्षत्रिय किसी को मारने के लिए, दु:खी करने के लिए शस्त्रधारण नहीं करता । अपितु कोई आर्तनाद न करे, दीन-दु:खी, असहाय होकर न चिल्लाये, विलाप न करे; इसलिए हमलोग शस्त्र धारण करते हैं । इसलिए जब राष्ट्रपति हमारे पास आये, अभी थोड़े दिन पहले तो हमने उनसे कहा कि भारत को अणुशस्त्र बना लेना चाहिए, इसलिए नहीं कि हम किसी पर उसका प्रयोग करेंगे, मारेगें । अपितु इसलिए, जिससे वे हमारे पास रहे और दीनों को कोई सता न पाये । शस्त्र रखना कोई बुरी बात नहीं है । शस्त्र का गलत जगह प्रयोग करना बुरी बात है । अर्जुन के पास पाशुपतास्त्र था, लेकिन अर्जुन ने कह रखा था कि मैं पाशुपतास्त्र का प्रयोग नहीं करूँगा । मैं इसका प्रयोग तभी करूँगा जब हम पाँचों में से कोई मार डाला जाएगा । युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव इनमें से कोई मारा गया, तो मैं पाशुपतास्त्र छोड़ दूँगा । पाशुपतास्त्र वह है जिससे सारे संसार का संहार हो सकता है । तो उस डर से युधिष्ठिर को किसी ने नहीं मारा । अन्यथा महाभारत में कई बार मार देते लोग और भगवान् राम के पास ब्रह्मास्त्र था । लेकिन उन्होंने उसका प्रयोग नहीं किया । क्योंकि सज्जनों के पास शक्ति रहती है तो वह विश्व के मंगल का कारण बनती है । उससे विश्व का अमंगल नहीं होता है । बल हो और वह खल के पास हो तो यह रथ कहाँ ले जाया जायेगा और किसका अनर्थ कर देगा । इसलिए इसके साथ तीन घोड़े और जोड़े गये ।

बल विवेक दम परहित घोरे - बल, विवेक, दम और परहित ये घोड़ें हैं । तो बल के साथ विवेक लगा दिया गया और दम तथा परहित लगा दिया गया और रस्सी तीन लगाई गई क्षमा, दया और समता । रस्सी तीन बल की होती हैं, इस अर्थ में भी हम ले सकते हैं । और घोड़ों को सीधा बाँधने की बात करें तो इनमें एक ऐसा घोड़ा है, जिसे नहीं बाँधना चाहिए । वह घोड़ा कौन सा है ? वह घोड़ा है विवेक । बल के साथ क्षमा

लगा दो, परहित के साथ समता लगा दो और दम के साथ दया लगा दो। अब केवल घोड़े को नियन्त्रित करने के लिए रस्सी नहीं होती है । वे रथ छोड़कर चले न जाएँ, रथ में बिखराव न आ जाय, इसलिए भी रस्सी की आवश्यकता पड़ती है । बल के साथ विवेक जुड़ा रहे, उसके साथ कृपा जुड़ी रहे, समता जुड़ी रहे; यह आवश्यक होता है । विवेक पर नियन्त्रण नहीं होता । विवेक को खुला छोड़ना पड़ता है । विवेक जिधर ले जाये उधर बल को जाना चाहिए, उधर दम को जाना चाहिए, उधर परहित को जाना चाहिए। विवेक से हम समझ सकते हैं कि कौन सा दूसरों का हित है और कौन सा दूसरों का अहित है । विवेक से ही इस बात का पता चल सकता है कि किसका दमन करना चाहिए और किसका दमन नहीं करना चाहिए । बल के साथ विवेक की आवश्यकता है ही, तो विवेक तीनों का मार्गदर्शक होगा। नियन्त्रण उसी का होता है, जो मनुष्य अनुचित आचरण करता है । अविवेक से जो काम लेता है, उसे ही बाँधा जाता है । जो गाय दूसरों के खेतों में चरने जाती है, उसी गाय को रस्सी से बाँधी जाती है । अगर सीधे जंगल में चरने चली जाती है, सीधी आ जाती है और अपने स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाती है, उस गाय को रस्सी से नहीं बाँधा जाता ।

विवेक नाम का एक ऐसा घोड़ा है । आत्मनियन्त्रण, यदि कोई मनुष्य अपने ऊपर नियन्त्रण कर ले तो उसके ऊपर दूसरों का नियन्त्रण समाप्त हो जाता है। धर्म क्या है ? आत्मनियन्त्रण हमको सिखाता है । यदि मनुष्य आत्मनियन्त्रण कर लें तो उसको शासन की आवश्यकता नहीं होती । राजा की भी आवश्यकता नहीं होती । आत्मवान् का मतलब जो अपने मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हैं, वे आत्मवान् कहलाते हैं । उनका शास्ता गुरु है, गुरु के उपदेश से वह अपना आचरण, अपना कार्य उनके उपदेश के अनुरूप बना लेते हैं। इसलिए उनको राजा की आवश्यकंता नहीं । लेकिन जो उनके अनुसार नहीं चलते, जो अपने आपको वश में नहीं रख सकते, गुरुओं के वचनों का अनुसरण कर नहीं सकते, उनके लिए राजा

शास्ता होता है । इसीप्रकार आज स्वतंत्रता दिवस है । यह स्वतन्त्रता क्या है, लोग स्वतन्त्रता का अर्थ समझ लेते हैं उच्छृङ्खलता । जो हमारे मन में आये, वह करें । परन्तु इसको हम स्वतन्त्रता बना लेंगे, तो हम परतन्त्र हो जायेंगे । हमारी स्वतन्त्रता तभी सुरक्षित रहेगी, जब हम अपने नियन्त्रण सीमा में रहेंगे । हम अपनी सीमा, अपने धर्म, अपने कर्तव्यों का समुचित रीति से पालन करेंगे, तभी हम स्वतन्त्र रहेगें । लोग कहते हैं कि हम किसी की बात नहीं मानते । जो हमारा मन कहता है, जो हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं, उसे मानते हैं । तो ऐसे व्यक्ति और लोगों से तो आजाद हो गये; लेकिन अपनी इन्द्रियों के गुलाम हो गये और जो इन्द्रियों के गुलाम हो गये, उनको सबका गुलाम बनना पड़ेगा । जो आँख कहेगी वह करोगे, जीभ कहेगी वह खाओगे, तो परिणाम यह होगा कि जीभ तुम्हारे अपनी लोलुपता के कारण न जाने किस किसके चरण चुम्बन के लिए बाध्य कर देंगी । जहाँ मनुष्य आत्मनियन्त्रण से रहित हुआ । वहाँ उसके ऊपर दूसरों का नियन्त्रण लग जाता है । आज जो अपने भारत की दशा है, वह इसलिए गड़बड़ है कि हममें आत्मनियन्त्रण नहीं है । हम अपनी सीमा को नहीं देखते । देश के हित को देखकर उसके साथ व्यक्तिगत हितों का सामंजस्य नहीं बैठाते । दृष्टि और समदृष्टि का जब सामंजस्य होता है, तभी समष्टि का उत्थान होता है । समष्टि से ही देश का विकास होता है । कहते हैं कि वृक्ष-वृक्ष से वन बनता है । अगर प्रत्येक वृक्ष को काट दिया जाय तो वन ही कट जाय । अगर हमें समष्टि को सुरक्षित रखना है तो व्यष्टि को सुरक्षित रखना पड़ेगा और समष्टि को सुरक्षित रखने से व्यष्टि की सुरक्षा अपने आप हो जायेगी । इसलिए प्रत्येक को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए । अपने देश के हित को दृष्टि में रखना चाहिए । मोक्ष को अपनी दृष्टि में रखना चाहिए । अपने धर्म को अपनी दृष्टि में रखना चाहिए । जब हम यह करेंगे, तो हम सहज में ही स्वतंत्र हो जायेंगे । वास्तविक स्वतन्त्रता यह है । उसके लिए आत्मनियन्त्रण की आवश्यकता होती है । बल के पीछे लगा दी

गयी क्षमा, विवेक के लिए कोई नियन्त्रण नहीं और दम के पीछे लगा दी गई कृपा । हम इन्द्रियों का दमन क्यों करें? क्यों अपनी आवश्यकताओं को कम करें ? क्योंकि यदि नहीं करेंगे, तो दूसरों के जो अधिकार हैं, उसे हम छीनेंगे । दूसरों के सुख की जो सामग्री है, उन्हें हम हड़प लेंगे । इसलिए दम की आवश्यकता है । दम के पीछे दया चाहिए, कृपा चाहिए । ये दूसरों के लिए भी छोड़ो, सब अपने पास ही इकट्ठा न करो । भगवान् ने यदि हमें हलुआ-पूड़ी खाने को दी है तो हम खायें, भगवान् को नैवेद्य लगाकर । लेकिन इसके पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि पड़ोसी के घर में चूल्हा जला है या नहीं । अगर उसके घर में चूल्हा नहीं जला है, तो हलुआ-पूड़ी हमें हजम नहीं होगा । पहले हमें उसके घर में चूल्हा जलाना चाहिए, तब हमें खाना चाहिए । इसके लिए कृपा चाहिए और परहित तब हो सकता है, जब मनुष्य के हृदय में समता हो । अपने सुख दु:ख के समान ही दूसरों के सुख दु:ख को समझें, तो वह परहित कर सकता है । इसलिए चार घोड़े और तीन रस्सियाँ -

बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा दया समता रजु जोरे ।।

आज तो पहले दिन थोड़ा सा ही आप लोगों के बीच में बोल पाये आगे जो रथ का रूपक है उस सम्बन्ध में आप लोग सुनेंगे ।

श्रीराम जय राम जय जय राम ।
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ।

ॐ

द्वितीय दिवस

उपस्थित विद्वत् बंधुओं, देवियों और सज्जनों,

धर्मरथ का प्रसंग चल रहा है, रावण रथ पर बैठकर भगवान् राम से युद्ध करने आया है और भगवान् राम नंगे पैर हाथ में धनुषबाण लेकर रावण से युद्ध करने को प्रस्तुत हो रहे हैं । विभीषण के मन में संदेह है और वे भगवान् से प्रणाम कर प्रश्न कर रहे हैं - भगवान् ! आप बलवान् शत्रु पर किस प्रकार विजय प्राप्त करेंगे । न तो आपके चरणों में पदत्राण है, न आपके श्री अङ्ग पर कवच है । भगवान् श्रीराम ने उत्तर दिया कि विभीषण - **जेहि जय होइ सो स्यंदन आना ।** जिससे विजय प्राप्त होती है, वह रथ कोई और ही है । जिस पर विजय प्राप्त करनी है, वह शत्रु भी कोई और ही है । रावण शत्रु नहीं है, शत्रु संसार है और यह रथ रथ नहीं है, रथ धर्म है । वस्तुत: जहाँ शत्रुता की भावना से युद्ध होता है, उस युद्ध को धर्मयुद्ध नहीं कहा जा सकता है । धर्मयुद्ध में प्रतिहिंसा नहीं होती, द्वेष नहीं होता जो भी सामने अन्याय का पक्ष लेकर आता है, उसके साथ न्याय की रक्षा के लिए संघर्ष होता है । इसलिए आपने देखा, जब कौरवों और पाण्डवों का युद्ध होता है, महाभारत युद्ध से पहले विराट्नगर में कौरवों की सेना विराट् की गायों को लेकर जाने लगती है, तो अर्जुन उनकी रक्षा के लिए वहाँ पहुँचते हैं । तो सबसे पहले अपने गुरु द्रोणाचार्य के चरणों में दो बाण प्रेषित करते हैं । अर्जुन के गाण्डीव से निकलकर दो बाण द्रोणाचार्य के चरणों के नीचे से निकल जाते हैं । द्रोणाचार्य समझ जाते हैं, अर्जुन हमें प्रणाम कर रहा है । और जिसप्रकार अर्जुन ने प्रणाम किया उसीप्रकार का द्रोणाचार्य आशीर्वाद देते हैं । उनके मस्तिष्क के ऊपर से बाण भेजकर आशीर्वाद देते हैं, जो आशीर्वाद भी है और न्याय के लिए

संघर्ष भी है। यही स्थिति भगवान् राम की है । वे रावण से शत्रुता की भावना नहीं रखते हैं, वे तो धर्मयुद्ध कर रहे हैं । जो उनके ऊपर आ गया है । ऐसी स्थिति में भगवान् राम का यह कहना कि **जेहि जय होय सो स्यंदन आना ।** साधन साध्य के अनुरूप होता है । जब हमें संसार शत्रु से लड़ना है तो संसार शत्रु से लड़ने के लिए भौतिक रथ से काम नहीं चलेगा। इससे युद्ध करने के लिए तो धर्मरथ की आवश्यकता है । उस धर्मरथ के स्वरूप का यहाँ वर्णन किया जा रहा है ।

आपने कल सुना कि भगवान् जिस रथ की चर्चा कर रहे हैं, उस रथ में दो चक्र हैं, शौर्य और धैर्य । सत्य और शील उसके ध्वजा पताका हैं। रथ में चार घोड़े जुते होते हैं - बल, विवेक, दम, परहित जो क्षमा, दया और समता के रज्जु से जुड़े हुए है ।

बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा दया समता रजु जोरे ।।

इन्हीं पर विचार चल रहा था । यह हमने बतलाया था कि रथ को खींचने के लिए तो बल ही पर्याप्त है तो उस प्रकार का रथ तो रावण के पास भी है । रावण के पास भी शौर्य और धैर्य है तथा बलरूपी अश्व हैं। परन्तु दम, विवेक, परहित तीन घोड़े उसके पास नहीं है । रावण के पास ध्वजा और पताका भी नहीं है । न सत्य है और न शील ही है । भगवान् श्रीराम जिस रथ का वर्णन करते हैं । यदि हम भगवान् श्रीराम के जीवन पर दृष्टि डालें, तो हमें पता लगेगा की भगवान् के जीवन में वह रथ साङ्गोपाङ्ग है -

बल विवेक दम परहित घोरे । छमा दया समता रजु जोरे ।।

दम, बल और विवेक की चर्चा कर चुके हैं । दम और परहित की चर्चा करनी है । दम माने इद्रियों का निग्रह । मनुष्य की इन्द्रियाँ कभी तृप्त नहीं होतीं, यह बतलाया है कि -

पृथ्वी में जितने अन्न हैं, जितने यव है, हिरण्य (स्वर्ण) है, पशु हैं, स्त्रियाँ है, सब के सब एक व्यक्ति को दे दिये जाएँ । जिस व्यक्ति का हृदय, मन, काम से विदग्ध है वह सब एक को ही पर्याप्त नहीं होगा । इसलिए

मनुष्य को अपने ऊपर नियन्त्रण करना पड़ेगा, तभी दूसरे लोग भी संसार का सुख भोग सकेंगें । यदि इन इन्द्रियों का वश चले तो सभी का सब कुछ हड़प जाय । हमारी आँख, कान, जिह्वा, नासिका और मस्तिष्क पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । इनका दम इसलिए आवश्यक है कि दूसरों के ऊपर भी हमें ध्यान रखना है । मनुष्य के भोग तभी सम्भव हैं जबकि वह दूसरों को कष्ट दे । जब तक हम प्राणियों को कष्ट नहीं देंगे, तो भोग नहीं हो सकता । दूसरों को कष्ट देकर ही मनुष्य संसार के भोग भोग सकता है और दूर की बात जाने दीजिए, केवल जिह्वा को ही ले लीजिए । यदि हम जिह्वा की तृप्ति करना चाहें तो जो जिह्वा कहे, उसे देते रहें, तो आप जानते ही हैं कि जिह्वा के पीछे लोग कितनी हत्या करते हैं । क्या-क्या पाप अपनी जीभ के लिए प्राणी करता है । तो उन प्राणियों के ऊपर दया करनी है, उनके ऊपर कृपा करनी है, तो जिह्वा पर नियन्त्रण करना ही पड़ेगा । उसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों पर भी नियन्त्रण रखकर दूसरों को सुखी रखने में सक्षम हो सकते हैं । इसलिए दम के साथ दया जुड़ी हुई है । दयारूपी रस्सी से दम जुड़ा हुआ है और इसी प्रकार परहित का घोड़ा समता के साथ जुड़ा हुआ है । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि -

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !
सुखम् वा यदि वा दुःखम् स योगी परमो मतः ।।

हे अर्जुन ! जो दूसरों का दुःख और सुख अपने ही समान समझता है, वह परमयोगी है । जैसे कोई हमें अपमानित करता है, कटु शब्दों का प्रयोग हमारे प्रति करता है तो हमें कष्ट होता है उसीप्रकार दूसरों को भी होता होगा, यह हमें देखना है । इसलिए महाभारत में कहा है -

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

धर्म के सर्वस्व को सुनो और हृदय में धारण करो । जो बात अपने अन्तरात्मा के प्रतिकूल है, वह दूसरों के साथ मत करो । वह सब हमारे

अपने हैं । कोई पराया नहीं है । इसलिए सबका सुख हमारा सुख है और सबका दु:ख हमारा दु:ख है ।

इस तरह समता और परहित का सम्बन्ध है । परहित, विवेक, दया जब शक्ति के साथ जुड़ते हैं, बल के साथ जुड़ते हैं तो वह बल सार्थक होता है । मनुष्य की शक्ति ही बल हो, बल के साथ साथ क्षमा न हो, उधर कृपा न हो और यदि बल के साथ समता न हो, परहित की भावना न हो और सबसे मुख्य बात विवेक न हो, तो वह बलरूपी अश्व हमें न जाने कहाँ ले जाकर पटक देगा और हमारे शौर्य, धैर्य का कौन सा उपयोग हो जायेगा। इसलिए भगवान् श्रीराघवेन्द्रजी ने कहा -

बल विवेक दम परहित घोरे । क्षमा दया समता रजु जोरे ।।
ईश भजन सारथि सुजाना । विरति चर्म संतोष कृपाना ।।

ईश्वर का भजन सारथी है, रथ का सारथी ही रथ का सञ्चालक, मार्गदर्शक और नियन्त्रक होता है । जिसके मन में ईश भजन है वैसे यहाँ पर ईश शब्द का अर्थ ईश्वर है । ईश्वर शब्द भगवान् शङ्कर में रुढ़ है । हम यह देखते हैं कि भगवान् श्रीराम के जीवन में ईश भजन बराबर है, वे भगवान् शङ्कर की नियम से पूजा करते हैं । वे भगवान् शङ्कर के उपासक हैं । इसका सङ्केत हमें गोस्वामी जी से तब मिलता है, जब भगवान गङ्गापार करते हैं -

तब मज्जनि कर कुल रघुनाथा । पूजहि पार्थिव नायउ माथा ।।

भगवान् रघुकुल नाथ ने स्नान किया, और पार्थिव स्वरूप भगवान् शङ्कर को प्रणाम किया । यही नहीं, जब सेतुबन्ध होता है तो भगवान् उस सेतुबन्ध में चरण रखने से पहले भगवान् शङ्कर की पूजा करते हैं -

करहुँ यहाँ संभु थापना । मोरे हिय परम कलपना ।।

भगवान् बोले मैं यहाँ भगवान् शङ्कर की स्थापना करूँ, मेरे मन में इस बात की पहले से ही कल्पना है । भगवान् शङ्कर की स्थापना करके ही लंका जाना उचित है । भगवान् शङ्कर की स्थापना करने के लिए भगवान्

उपक्रम रचते हैं । भगवान् शङ्कर का तत्काल मंदिर बनता है । उस मंदिर में भगवान् की स्थापना करने के लिए शिवलिङ्ग लाने हेतु हनुमान् जी को काशी भेजा जाता है । हनुमानजी वायुवेग से चलकर काशी जाते हैं । कहीं-कहीं कथा इस प्रकार आती है, यह कथा पूज्य स्वामी करपात्रीजी से हमने सुनी थी कि भगवान् की प्रतिष्ठा करने के लिए रावण को बुलाया गया था। भगवान् ने सुना कि रावण शिवभक्त है, प्रतिष्ठा कर्म भलीभाँति जानता है। पुरोहित के रूप में भगवान् श्रीराम ने उसे ही बुलाया । क्योंकि वह तन्त्रशास्त्र का ज्ञाता था । रावण आया पुष्पक विमान में जानकीजी को भी बिठाकर लाया और भगवान् राम के दक्षिणभाग में क्योंकि शुभकार्यों में नारी दाहिनी तरफ बैठती है । दक्षिणपाश में बैठाकर विधिवत् प्रतिष्ठा कर्म करवाया बहुत विधिविधान से । ऐसा कहा जाता है कि जब प्रतिष्ठाकर्म समाप्त हो गया, तब भगवान् ने रावण से कहा कि अब आप दक्षिणा स्वीकार कर लीजिए । रावण बोला तुम क्या दक्षिणा दे सकते हो । तुम तो तापस हो, तुम्हारे पास है ही क्या, मेरे पास तो सोने की लंका है । स्वर्णदान ही दक्षिणा में होता है । भगवान् राम बोले भले हमारे पास कुछ न हो लेकिन प्रतिष्ठा कर्म की सम्पूर्णता तभी सिद्ध होगी, जब हमसे आप कुछ स्वीकार कर लेंगे । क्योंकि बिना दक्षिणा का यज्ञ तमोगुणी माना जाता है ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणं ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।

जिसमें शास्त्र की विधि नहीं है, जिसमें अन्नदान नहीं है, जिसमें वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं होता । जिसमें ब्राह्मणों को पर्याप्त दक्षिणा नहीं दी जाती और जिसमें श्रद्धा नहीं है । वह यज्ञ तामसिक यज्ञ माना जाता है । इसलिए जब तक आप दक्षिणा नहीं लेंगे, तब तक मेरे यज्ञ में पूर्णता ही नहीं आयेगी । रावण ने कहा कि तुम्हें दक्षिणा ही देनी है तो दक्षिणा में यह दो, जो हमें तुम्हें देखकर हृदय में प्रेम हो जाता है, वह न हो । वैरभाव बना रहे, यही दक्षिणा चाहिए । उस समय जब प्रतिष्ठा पूर्ण हो गयी, तब

कथा यह भी आती है कि हनुमान् जी के आने में कुछ बिलम्ब हो गया तो रावण बोला कि मुहूर्त निकला जा रहा है । उसी समय भगवान् राम ने बालू का शिवलिङ्ग बनाया और उस बालू के शिवलिङ्ग में ही रावण ने प्रतिष्ठा करवाई । प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई ।

अब भगवान् का जन्म हुआ, अवतार हुआ। जब जन्म होता है तभी सभी संस्कार होते हैं । नामकरण भी एक संस्कार होता है । लोगों ने पूछा महाराज जी इस शिवलिङ्ग का नाम क्या होगा । भगवान् बोले रामेश्वर नाम होगा । किसी ने पूछ लिया कि महाराज रामेश्वर का अर्थ क्या होगा । भगवान् राम बोले रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः । जो राम के ईश्वर, वह रामेश्वर । शिवलिङ्ग में से शिवजी बोल पड़े यह षष्ठी का तत्पुरुष समास नहीं होगा रामः ईश्वरः यस्य सः रामेश्वरः नाम है । राम हैं ईश्वर जिसके वे हैं रामेश्वर। शङ्कर जी बोले कि राम ही हमारे ईश्वर हैं, हमारे ईष्ट देवता हैं । भगवान् राम बोल रहे थे - रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः । राम के ईश्वर रामेश्वर और भगवान् शङ्कर बोल रहे थे - रामः ईश्वरः यस्य सः रामेश्वरः । वहाँ ऋषिगण भी आ गये थे । दोनों को हाथ जोड़कर ऋषिगणों ने कहा महाराज आप दोनों का अर्थ हमलोगों को सम्मत नहीं है । हमलोग तो यह मानते हैं - रामश्चासौ ईश्वरः रामेश्वरः अर्थात् जो राम है, वही ईश्वर है, जो ईश्वर है, वही राम है । आप दोनों में कोई भेद नहीं है । तो यह कर्मधारय समास यहाँ किया गया है । फिर हनुमान् जी आये । जब उन्होंने देखा कि शिवलिङ्ग स्थापित हो चुका है तो बोले मैं इतनी दूर से आया, मेरा परिश्रम व्यर्थ हो गया। हनुमानजी ने सोचा इस शिवलिङ्ग को उखाड़कर फेंक दूँ और अपना लिङ्ग स्थापित कर दूँ । उन्होंने अपनी पूँछ में शिवलिङ्ग को लपेटा और पूरी शक्ति लगाई लेकिन वह शिवलिङ्ग हिला तक नहीं । अंत में हनुमानजी द्वारा लाया गया लिङ्ग बगल में ही स्थापित किया गया । आज भी लोग वहाँ उसके दर्शन किया करते हैं । **ईश भजन सारथि सुजाना**- ईश्वर का भजन सारथि है, अपने जीवन में ईश्वर की आराधना आवश्यक है क्योंकि बुद्धि

की शुद्धि तभी सम्भव होती है, जब मनुष्य अपनी दिनचर्या में ईश्वर की आराधना को स्थान दें। हम यह बतलाया करते हैं कि यदि आपको अपने जीवन में सफल होना है तो सफलता के लिए उचित कर्म करने होंगे और कर्म आपके द्वारा उचित हों, विधिवत् हो। इसके लिए आवश्यक है आपका निर्णय सही हो। जब आप सही निर्णय करेंगे, तो सही कर्म होंगे। सही कर्म होंगे तो आप जीवन में सफल होंगे। लेकिन सही निर्णय आप तभी कर पायेंगे, जब निर्णय करते समय आपका मन निर्विकार होगा। जो निर्णय काम के आवेग में होता है, क्रोध के आवेश में होता है, जो लोभ के कारण होता है, वह निर्णय दोषपूर्ण होता है और कभी-कभी तो अनुचित हो जाता है। उसके कारण हमारा कर्म भी खराब हो जाता है। इस कारण फल भी ठीक नहीं होता और मन निर्विकार बनाने के लिए भगवान् के भजन के सिवाय कोई उपाय नहीं है। ईश्वर के भजन से ही मन निर्विकार शान्त हो सकता है। भगवान् सम हैं, निर्दोष हैं, जब तक हम अपने मन को सम तथा निर्दोष नहीं बना लेंगे तब तक भगवान् में मन लग ही नहीं सकता। कुछ लोग कहते हैं, ईश्वर भजन में हमारा मन नहीं लगता लेकिन बात कुछ और है। मन लगाने के लिए ही ईश्वर-भजन किया जाता है। मन लग जाये तब ईश्वर का भजन हो, यह बात नहीं है। मन आखिर लगाना किसमें है, कहाँ मन लगाना चाहिए। पहले तो विषय चाहिए। मन को लगाने का और दूसरा अभ्यास चाहिए। जब आपका कोई लक्ष्य ही नहीं है, तो अभ्यास ही आप क्यों करेंगे। भगवान् के भजन में जब मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है, तब निष्ठापूर्वक प्रतिदिन भगवान् का भजन करने लगता है। धीरे-धीरे मन भी लग ही जाता है। प्रारम्भ में मन भले ही उछलकूद मचाये। किन्तु मन धीरे-धीरे समाहित होता है और भगवान् के चरणों में लग ही जाता है। मन भजन करने पर ही लगता है। कोई यह सोचे कि पहले लग जाय, तो यह सम्भव नहीं है।

एक किसी सेवक से स्वामी ने कहा कि तुम यहाँ झाड़ू लगा दो।

उसने कहा कि मुझे झाड़ू लगाना आता ही नहीं है । तो उन्होंने कहा कि झाड़ू लगाना कैसे आयेगा । झाड़ू पकड़ोगे, फेरोगे तभी तो आयेगा । न आप झाड़ू पकड़ते हैं, न फेरते हैं, तो झाड़ू लगाने कैसे आयेगा । इसीप्रकार भगवान् के भजन में जब बैठेगे, तभी मन लगेगा । उनका प्रतिदिन भजन करेंगे, तो हमारा यह जो रथ है, वह सही दिशा में जायेगा । क्योंकि क्षमा, दया, समता और बल की रज्जु में जुड़े हुए दम, विवेक, परहितरूपी घोड़े नियन्त्रित होते हैं । ईश-भजनरूपी सारथी से जब मनुष्य भगवान् की आराधना करता है, तभी उसके हृदय में समता आती है, दया आती है । तभी उसके हृदय में विवेक आता है और बल भी भगवान् की कृपा से प्राणी को प्राप्त होता है । क्षमा भी भगवान् की कृपा से प्राप्त होती है । इसीप्रकार दूसरों का हित वही करता है, जो भगवान् में श्रद्धा रखता है । जिसकी बुद्धि में सब प्राणी भगवद् स्वरूप हैं, वह जितना परहित कर सकता है, उतना अपनेआप को उपकार मानने वाला नहीं कर सकता है । इसीलिए ईश भजन मनुष्य जीवन में परम आवश्यक है । यहाँ ईश भगवान् शङ्कर के लिए कहा गया है । परन्तु यह उपलक्षण है । जिस भगवान् के स्वरूप में हमारी श्रद्धा और निष्ठा हो, उसी रूप में हम उनकी आराधना कर सकते हैं । वस्तुतः भगवान् के स्वरूप में कोई भेद नहीं है । जो लोग भेदबुद्धि करते हैं, वे नासमझी से करते हैं । भगवान् विष्णु ने कहा है -

ज्ञानं गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या ।
विभेदबुद्ध्या मयि ये भजन्ति मामङ्गहीनं कलयन्ति मन्दाः।।

गणेश मेरा ज्ञान हैं, सूर्य मेरे नेत्र हैं । शिव मेरी आत्मा हैं और आद्या भगवती मेरी आराधना है । इनमें भेदबुद्धि जो करता है, वह मुझे अंगहीन बनाता है । इसलिए किसी रूप में भी भगवान् की आराधना कर सकते हैं। **ईस भजन सारथी सुजाना ।** संसार शत्रु है । संसार शत्रु से लड़ना है । कैसे लड़ें, बड़ा कठिन है, संसार का जहर चढ़ता है । आपने सुना होगा कि नेवले और सर्प की लड़ाई होती है । दोनों जन्मजात शत्रु होते हैं । जब

नेवला साँप से लड़ता है, तो सांप उस नेवले को काट खाता है । नेवले के शरीर में सांप का जहर चढ़ने लगता है । जब उसको पता लगता है कि मेरे शरीर में जहर चढ़ रहा है तो वह तत्काल जंगली जड़ी-बूटियों का सेवन करने चला जाता है, और जंगल में जो सर्प के विष का नाश करने वाली जड़ी-बूटी है, उनको सूँघकर उनको खाकर, फिर सर्प से आकर लड़ता है । सर्प क्रोध के कारण अपना फन खड़ा किये रहता है, तब तक नेवला आ जाता है । सर्प से फिर युद्ध करता हैं । इस प्रकार सर्प बार-बार नेवले को काटता है और नेवला बार-बार विषहीन होता है । अन्त में वह सर्प पर विजय प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार संसार सर्प है । इसका विष है - काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर । ये जहर साधक के मन में साधनारूपी शरीर में चढ़ने लग जावे, तो इसको जैसे जंगल में नेवला जाता है - जड़ी-बूंटी सूँघता है । उसीप्रकार साधक को सत्संग में चले जाना चाहिए और सत्संगरूपी जड़ी-बूटी का सेवन करके अपने मन को निर्विष बनाकर फिर उससे लड़े, तो यह संसाररूपी सर्प एक दिन पराजित होकर ही रहेगा । संसार सर्प से लड़ने के लिए यहाँ पर बतलाया गया है कि अस्त्र चाहिए, शस्त्र चाहिए । भगवान् राम कहते हैं कि **ईस भजन सारथी सुजाना । विरति चर्म संतोष कृपाना ।।** वैराग्य की ढाल से संसाररूपी शत्रु के वार को रोको । संसार मनुष्य के ऊपर तभी प्रभाव डाल सकता है, जब उसके हृदय में राग उत्पन्न हो जावे । राग के द्वारा ही वह अपने मन मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालता है । तभी प्रकृति मनुष्य के ऊपर विजय प्राप्त करती है, जब मनुष्य के भीतर राग होता है । श्रीमद्भगवद्गीता में एक प्रसंग आता है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं -

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।

अर्जुन ! इन्द्रियों के विषयों में राग और द्वेष व्यवस्थित है । अनुकूल विषय जब इन्द्रियों के समक्ष आयेगें, तो इन्द्रियों के मन में राग होगा और

प्रतिकूल विषय आयेंगे, तो द्वेष होगा । यह नियम है । राग-द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए । साधक के मन में एक प्रश्न और भी उठा है । इसके पहले भगवान् कहते हैं कि -

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।

ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के ही सदृश चेष्टा करता है । जैसा उसकी प्रकृति उसको प्रेरित करती है, वैसा ही वह कर्म करता है । भले ही वह बहुत बड़ा जानकार, ज्ञानवान् ही क्यों न हो । यह प्रकृति, यह माया ज्ञानियों के चित्त को भी अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेती है ।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।

वह माया भगवती ज्ञानियों के चित्त को भी बलात् आकृष्ट करके मोह में डाल देती है । इसी का ठीक अनुवाद है -

जो ज्ञानिन कर चित अपहरहीं । बरयाईं मोह वश करहीं ।।

माया ज्ञानियों के चित्त को भी अपनी ओर खींच लेती है । वश में कर लेती है । मोह के वश में कर देती है । तो प्रसंग आता है कि प्रकृति के द्वारा प्रेरित होकर प्राणी कर्म करता है । **प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति** । प्रकृति का निग्रह क्या करेगा । सब प्राणी प्रकृति के अनुरूप कार्य करते हैं । इसका अर्थ यह हो गया कि प्रकृति जैसा कराती है, आदमी वैसा ही करता है । तब तो साधना के लिये कोई अवकाश ही नहीं है और शास्त्रों में जो विधि निषेध है, वह भी व्यर्थ है । यह शास्त्र कहते हैं कि यह करो, यह न करो । क्यों कहते हैं ? जब सब प्राणी प्रकृति के परतन्त्र हैं, तो ज्ञानियों के ऊपर प्रकृति अतिक्रमण नहीं कर सकता । उस हालत में फिर उससे यह क्यों कहा जाता है, कि यह करो, यह न करो । कोई भी समझदार पुरुष जिसके पैर में बेड़ी है, उससे यह नहीं कह सकता की तुम दौड़ लगाओ । उसीप्रकार जो व्यक्ति प्रकृति से परतन्त्र है, उसे शास्त्र,

भगवान् की आज्ञा है । भगवान् क्यों कहते हैं, कि यह तुम्हारा कर्तव्य है, यह नहीं है । उसका तो कोई समाधान होना चाहिए और प्रकृति ही प्राणी से कर्म कराती है, तो विवश होकर प्राणी कर्म करता है । विवश होकर कुछ किया भी नहीं जा सकता । संसार से मोक्ष के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं किया जा सकता है । किसी भी प्राणी का मोक्ष भी नहीं हो सकता । इसका समाधान यह है कि -

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

इन्द्रियों में इन्द्रियों का राग-द्वेष व्यवस्थित है । इसीलिए राग और द्वेष के वश में न हो । इसका अभिप्राय यह निकला कि एक होता है मुख्य कारण और कुछ होते हैं सहकारी कारण । जैसे घड़ा बनता है, घड़े का मुख्य कारण मिट्टी होती है । मिट्टी से घड़ा बनता है । लेकिन पानी हवा और आग उसके सहकारी कारण हैं । केवल मिट्टी आपके पास रखी हो और जल न हो तो मिट्टी से आप घड़ा नहीं बना सकते हैं । जल की आवश्यकता पड़ती है, जल से उसे गीला किया जाता है । गीला करके उसको घड़े का आकार दिया जाता है । घड़े को आकार देने के पश्चात् उसको हवा में सुखाया जाता है । सूखने के बाद अग्नि में उसे पकाया जाता है । तब जाकर घड़ा बनता है । अगर यह सहकारी कारण न हो तो केवल मिट्टी कुछ नहीं कर सकती । इसी प्रकार प्रकृति मिट्टी है और राग, द्वेष सहकारी कारण हैं । सहकारिणी राग-द्वेष न होंगे, तो केवल प्रकृति हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकती । कहीं भी हमको न तो प्रवृत्त और न ही निवृत्त कर सकती है । जैसे उदाहरण के लिए आप समझ लीजिए कि - व्याघ्र की प्रकृति है हिंसा करना । जो भी प्राणी उसके सामने जाता है, उसको मार डालता है । दूसरा जानवर जाये, चाहे मनुष्य जाये, शेर के सामने, जो जाता है उसकी हत्या कर देता है । लेकिन क्या कारण है कि वह अपने बेटे की हत्या नहीं करता । सिंहनी सबको मार डालती है ।

लेकिन अपने पुत्रों के साथ खेलती है, उनको नहीं मारती । अपने पुत्रों को न मारने का कारण क्या है ? यदि हिंसा स्वभाव है तो उनको भी मार डालना चाहिए । वे उसके ऊपर लेटते हैं, चढ़ते है, उसके साथ खेलते हैं। लेकिन वह उनको नहीं मारती । उसका कारण यह है कि हिंस्र प्रकृति तो उसकी है, परन्तु सहकारी कारण जो द्वेष है वह दूसरे प्राणियों के प्रति है, अपने पुत्रों के प्रति नहीं । द्वेष का उल्टा राग है, अपने पुत्रों के प्रति उसका राग होने के कारण द्वेषरूपी सहकारण नहीं है । इसीलिए उसकी हिंस्र प्रकृति अपने पुत्रों को मारने में प्रवृत्त नहीं करती।

इसीप्रकार राग और द्वेष इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं । अगर उन रागों और द्वेषों का विनाश कर दें, उनको न होने दें तो प्रकृति को हम पराजित कर सकते हैं । उसके वश में होने से हम बच सकते हैं । इसलिए भगवान् ने यह बतलाया कि - विरति चर्म । राग का विरोधी क्या है ? वैराग्य ही चर्म है । चर्म माने ढाल, तलवार किसी के ऊपर चलायें, भाला, बर्छी चलायें तो वह ढाल से रोकी जाती है । संसार हमारे मन में राग उत्पन्न न करने पाये, इसलिए वैराग्य की ढाल हमको सदा अपने पास रखनी चाहिए । संसार से वैराग्य कैसे होता है ? राग का विरोध वैराग्य। वस्तुतः राग का विरोधी वैराग्य, कहीं राग का विरोधी द्वेष है । वैराग्य तो जिस वस्तु में हैं, वह तो उदासीनता है । किसी भी पदार्थ में हमारी प्रवृत्ति तभी होती है, जब हम उसमें गुण देखते हैं । जिस समय हमें उसमें दुर्गुण दिखलाई पड़ने लगते है, मन उन पदार्थों से उदासीन हो जाता हैं। तो उदासीन से ही उसका चिन्तन छूटता है । कोई यह सोचे कि द्वेष से हम राग को समाप्त कर देंगे, वैर से प्रेम को खत्म कर देंगे, उससे काम नहीं बनता है । जिसके प्रति अपना प्रेम होता है, उससे यदि बैर हो जाये तो जितना प्रेम की हालत में हम प्रेमी का चिन्तन करते हैं, उतना ही चिन्तन वैर की हालत में करते हैं । बराबर उसकी चर्चा करते हैं । पहले प्रशंसा करते थे, अब बुराई करते हैं । तो यह समस्या का हल नहीं हुआ, वैर से

हम प्रेम को समाप्त नहीं कर सकते, उदासीनता से समाप्त कर सकते हैं। यह तभी होता है, जिन वस्तुओं में हमारा राग हो, उसके दोषों को समझ लें, जिस समय दोषों को समझेंगे, उसी समय हमारा मन हट जायेगा। आप देखिये - जिन व्यक्तियों के लिए हम परेशान रहते थे, कभी ये हमें प्राप्त हो जायें, लेकिन आज नहीं हैं। क्या बात है, इसलिए नहीं है कि पहले हम उनमें गुण देखते थे। उनके दोष नहीं देखते थे, दोष दिखलाई देने पर मन वहाँ से हट गया। इसका नाम वैराग्य है। विरति चर्म लोभ का नाश कैसे होगा। लोभ का नाश हम लाभ से नहीं कर सकते, लाभ से लोभ दिनोंदिन बढ़ता है। लाभ द्वारा लोभ को दूर नहीं किया जा सकता अपितु संतोष से दूर कर सकते हैं। संतोष धन आने पर मनुष्य के मन में शान्ति, आनन्द और प्रसन्नता आ जाते हैं। इसलिए संतुष्ट मनुष्य सदा सुखी रहता है। जहाँ तक लाभ का प्रश्न है, जो हमारे प्रारब्ध में हैं, वह हमारे मन में संतोष हो तो प्राप्त होगा और संतोष न हो, तो नहीं प्राप्त होगा। इसलिए लाभ के लिए मन को असंतुष्ट बनाने की आवश्यकता नहीं है। उससे तो मन और अशांत ही होता है। इसलिए श्लोक है -

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः दैवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मात्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं नहि तत् परेषाम् ॥

जो वस्तु या जो अर्थ तत्त्व प्राप्त है और जो हमारे प्रारब्ध में है, वह हमें मिलेगा ही। दैव भी उसको नहीं बदल सकता। इसलिए एक संतुष्ट व्यक्ति कहता है, कि न मैं शोक करता हूँ, न मेरे मन में विस्मय है, जो वस्तु मेरी है, वह दूसरों की हो ही नहीं सकती। एक कथा आपको सुनाते हैं -

एक दम्पत्ति थे उनके घर एक पुत्र ने जन्म लिया। वह ऐसा पुत्र था; न उसके हाथ थे, न पैर। केवल आँख, कान, मुँह और पेट था। हाथ, पैर नहीं थे, ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ। प्राणी के जो प्रारब्ध होते हैं। उसके अनुसार कभी-कभी ऐसे पुत्र होते हैं, जो उसके दुःख का कारण बनते हैं। ऐसे पुत्रों में लोगों की इतनी ममता होती है, उसके प्रति इतना राग होता

है कि वह उसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते । उसके लिए बराबर दु:खी रहते हैं। जब उसका प्रारब्ध समाप्त होता है तब वह चला भी जाता है । उन्होंने उसे पाला पोसा । जब बालक थोड़ा बड़ा हुआ, तो बोलने लगा । अगर माता पिता से उसकी सेवा में थोड़ी सी भी त्रुटि हो जाती, तो उनको डाँट देता था । एक दिन माता पिता बोले, बेटे तुम्हारे न हाथ है, न पैर, हम हैं तो तुम्हारी सेवा होती है । यदि हम छोड़ देंगे तो तुम्हारी सेवा कौन करेगा। पुत्र ज्ञानी था, उसने कहा कि यदि हमारे प्रारब्ध में होगा, तो हमारी सेवा होती रहेगी । जो मेरा है, वह दूसरे का हो ही नहीं सकता । मेरे पास आकर ही रहेगा । एक दिन माता पिता को क्रोध आया । उन्होंने कहा कि हम इतनी सेवा करते हैं और यह मानता नहीं है । तो उसको ले जाकर जंगल में एक पेड़ के सहारे टिकाकर चले आये । अब तुम्हारा जो भी हो, हमसे कोई मतलब नहीं । माता-पिता क्रोध करके वहाँ से लौट आये । वह बेचारा अकेला जंगल में पड़ा रहा । कहीं से गाय चराने वाले चरवाहे वहाँ पर आये, उन्होंने देखा कि भगवान् की मूर्ति कैसे पधर गयी । इसके हाथ और पैर नहीं है, सिर्फ आँख, कान, नाक, मुँह और पेट ही है । मालूम होता है कि यह कोई देवता है । उन्होंने उसका हाथ जोड़ा और कहा आपके दर्शन बड़े भाग्य से हुए । आप कुछ खाओंगे, तुम्हारी इच्छा हो तो खिला दें । वे अपने साथ रोटी बाँधकर लाये थे । वह उनको खिलाया और गाय का दूध पत्तों का दोना बनाकर उनको पिलाया । अब तो उन चरवाहों को सेवा में आनन्द आने लगा । चरवाहे उसकी सेवा करते थे, वह उनको भी डांटने लगा, तो चरवाहे डरते थे । उससे वे और भी सेवा करते थे। लेकिन वह किसी की तरफ दीनता से देखता ही नहीं था । उसके हृदय में दीनता थी ही नहीं, अपने प्रारब्ध पर उसको दृढ़ विश्वास था । एक दिन की बात है नारदजी उधर से निकले और देखा कि इसके हाथ है, न पैर है, फिर भी बड़ा निर्भय है, क्या बात है । देखा और सब चरित समझा। भगवान् के पास जाकर बोले, वहाँ पर ब्रह्माजी बैठे थे, शंकरजी भी थे ।

भगवान् से कहा कि ऐसा मनुष्य हमने मृत्युलोक में देखा है, जिसके हाथ है न पैर है लेकिन इतना निर्भीक, इतना निरपेक्ष है, कि किसी के सामने दीन होता ही नहीं । तो त्रिदेव कहने लगे कि हम देखेंगे उसको । तीनों देव उसको देखने आये, जब सामने पहुँचे । वह देखकर पूछा कि आप कौन हैं। भगवान् बोले हम ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं । उसने पूछा आप कैसे पधारे । भगवान् बोले कि तुमको देखने आये हैं । वह बोला देख लिया, अब जाओ । त्रिदेव बोले कि हम लोगों का दर्शन व्यर्थ नहीं होता । देवताओं का दर्शन अमोघ होता है । तुमको कुछ माँगना हो, तो माँग लो । वह बोला - जो मेरा है वह मुझको मिलकर रहेगा, आपकी क्या जरुरत है। आप अपने स्थान पर जाओ । उनको जाना पड़ा लेकिन जाते समय देवताओं का दर्शन तो अमोघ होता ही है । उन्होंने संकल्प किया कि यह राजा बन जाये और इसके हाथ पैर भी निकल आये । वे चले गये, दूसरे दिन सबेरे ब्रह्ममुहूर्त में यह सोया था, योगमाया ने इसको ले जाकर एक राजधानी में चबूतरे के सामने लिटा दिया और उसके हाथ पैर भी निकल आये । संयोग की बात थी, उस नगर का राजा उसी दिन मरा था और उस नगर का यह नियम था कि जब राजा मर जाता था, तो उसके फाटक बन्द कर दिये जाते थे और सबेरे ब्रह्ममुहूर्त में फाटक सबके सामने खोला जाता था । सामने जो दिखलाई पड़ता था, उसे ही राजा बना दिया जाता था । उस समय फाटक बन्द था और वह चबूतरे पर लेटा था । सबेरा हुआ, वह उठकर बैठ गया । जैसे फाटक खुला, यही दिखलाई पड़ा, उन लोगों ने कहा कि यही राजा है । इसको हाथी पर बैठाया गया, छत्र लग गया, चँवर डुलाये जाने लगे, उसका राज्याभिषेक हो गया । राज्याभिषेक होने पर वह मन्त्रियों को डाँटने लगा । कोई जरा सी भी गलती करता तो उनको फौरन फटकारता । मन्त्रियों ने कहा कि आप कल ही राजा बने और आज ही डाँटने लगे । वह बोला कि तुमने थोड़े ही राजा बनाया है । प्रारब्ध में था, तो बन गये । हमारा ही हमको मिला है । तो वे मन्त्री भी डरने लगे ।

उसका स्वभाव अदैन्य था । अन्त में उसने अपने माता-पिता को बुलाया, जिन्होंने उसको जंगल में छोड़ दिया था । वह डरते-डरते आये । सामने खड़ें हुए । राजा न जाने कौन सा दण्ड देगा, न जाने किसलिए बुलाया है । वह बोला आपने हमें पहचाना । नहीं सरकार आपको नहीं पहचाना । उसने कहा मैं वहीं ढूँठा हूँ, आपका पुत्र, जिसको आप जंगल में छोड़ आये थे । देखा राज्य हमारा था, इसलिए हमको मिला । इसलिए मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि हम अपने मन में दीनता लायेंगे, तभी मिलेगा ।

जैसे हजारों बछड़ों में से पहचान कर गौ अपने बछड़े को दूध पिलाती है । उसीप्रकार प्रारब्ध भी मनुष्य कही भी हो, किसी अवस्था में हो, वह उसके प्रारब्ध के अनुसार सुख और दु:ख प्रदान करता ही है । इसलिए मनुष्य को संतुष्ट होना चाहिए । भगवान् श्रीराम कहते हैं -

ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म संतोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिग्यान कठिन कोदंडा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर ।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ।।

तो आपको विरति, संतोष कृपाण के बारे सुनाया ।

श्रीराम जय राम जय जय राम ।
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ।

ॐ

उपस्थित विद्वत् बंधुओं, देवियों और सज्जनों,

धर्मरथ का प्रसंग चल रहा है । कल आपने सुना था कि 'विरति चर्म संतोष कृपाना ।' धर्मरथ के रथी का चर्म, ढाल विरति है, और सन्तोष ही कृपाण है । संसार शत्रु है । शत्रु काम, क्रोध, लोभ के द्वारा रथी को पराजित करना चाहता है । रथी अपनी रक्षा के लिए विरति की ढाल और सन्तोषरूपी कृपाण हाथ में लिये हुए है । सन्तोष मनुष्य को तभी हो सकता है, जब उसको प्रारब्ध पर विश्वास हो । बिना प्रारब्ध पर विश्वास किये हुए मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता और सन्तोष से ही लोभ का अन्त हो सकता है ।

जिमि लोभहिं सोखहिं सन्तोषा । मानसकार कहते हैं कि सन्तोष लोभ का शोषण कर लेता है । यही नहीं, योगदर्शन में कहा गया है - **संतोषादऽनुत्तमसुखलाभः ।** संतोष से प्राणी को अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है । अनुत्तम सुख क्या है? जिससे कोई सुख उत्तम नहीं हो सकता । उसको कहते हैं - अनुत्तम सुख और वह भगवद् सुख है । उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डिजी गरुड को समझाते हुए कहते हैं कि -

बिनु संतोष न काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ।।

बिना संतोष के मनुष्य के इच्छा का नाश नहीं होता । काम का नाश नहीं होता और जब तक मन में काम विद्यमान है । स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता और वह सन्तोष भी सहज होना चाहिए । उसके पहले आता है -

कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु ।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ ।।

हे तात ! सहज सन्तोष के बिना क्या किसी को विश्राम मिला है ? क्या बिना जल के नाव चल सकती है ? सहज विशेषण से लगता है कि

संतोष दो प्रकार का होता है । एक होता है कृत्रिम संतोष, दूसरा होता है सहज संतोष । कृत्रिम संतोष उसे कहते हैं, कि हमने किसी इच्छा को पूर्ण करने के लिए प्रयास किया । जब यह देखा कि हमारा प्रयास सिद्ध नहीं हो रहा है तो हम मन को समझाते है कि संतोष करो, क्यों परेशान होते हो? परन्तु ऐसे व्यक्ति को पूर्णरूप से शान्ति नहीं मिलती । यदि उसको यह सम्भावना होने लग जावे कि इच्छा अब पूरी हो सकती है, तो उसके लिये प्रयास प्रारम्भ कर देता है । सहज सन्तोष मनुष्य के मन को बिल्कुल शान्त बना देता है । तब वह सन्तोष कैसे होता है, जब तक मनुष्य को परमेश्वर की उपलब्धि न हो जावें । परमेश्वर का ध्यान, परमेश्वर के स्वरूप के साक्षात्कार से उत्पन्न होने वाले दिव्य सुख की अनुभूति न हो जाय । तब तक सहज सन्तोष नहीं होता । सामान्य संतोष सन्तोषी की ओर बढ़ता है और उसके बाद सहज सन्तोष हो जाता है । तो प्राणी को विश्राम मिलता है ।

कल एक प्रश्न आया था कि प्रारब्ध कैसे बनता है और कैसे उसका क्षय होता है । पुरुषार्थ का कौन सा स्थान है? इस सम्बन्ध में आपको पहले सीधा-सा बतला देते है । जिससे आपके समझ में आ जाय । हमारे शास्त्रों में चार पुरुषार्थ बतलाये है - अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष । इन चारों में दो प्रारब्ध के अधीन हैं और दो पुरुषार्थ के अधीन हैं । इस तरह का दोनों का विभाजन कर लेना चाहिए । अर्थ और काम ये प्रारब्ध के अधीन है । धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के अधीन हैं । धर्म प्रारब्ध से नहीं मिलता । धर्म के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है । मोक्ष भी प्रारब्ध से नहीं होगा, उसके लिए भी आपको पुरुषार्थ करना पड़ेगा । परन्तु अर्थ और काम यदि आपके पुरुषार्थ में नहीं हैं तो आप लाख प्रयत्न कर लें, आपको नहीं मिल सकते । क्योंकि वहाँ पर प्रारब्ध है । आपके मार्ग में बाधा डाल देगा और यदि प्रारब्ध में है, तो कोई लाख बाधा डाले, जो वस्तु उसको मिलने वाली है वह उसे मिलकर ही रहती है । हमने बतलाया था कि जैसे गाय हजारों बछड़ों के बीच में भी अपने बछड़े को पहचानकर दूध पिलाती है । उसीप्रकार प्राणी

को अपना प्रारब्ध पहचानकर उसको अपना सुख या दुःख चाहे कहीं भी हो, उसको प्रदान करता है । इतना प्रबल प्रारब्ध होता है । मनुष्य की वैसी ही बुद्धि हो जाती है । उस समय फिर वह वैसा कर बैठता है । हमने किसी महात्माजी से सुना था कि एक बार यमराज भगवान् के दर्शन करने वैकुण्ठपुरी गये । वहाँ पर एक साधारण चिड़िया बैठी थी । दरवाजे पर उसकी ओर यमराज ने घूर कर देखा, तो वह चिड़िया डर गयी । उसने सोचा कि यमराज की नजर पड़ गयी, लगता है कि हम मारे जायेंगें । उसने गरुड से कहा कि आज हमको यमराज देखकर गया हैं, शायद हम मारे जायँ । इसलिए हमारी रक्षा का कोई प्रबन्ध करो । गरुड ने कहा कि हम तुम्हें ऐसे स्थान पर छिपा देते हैं कि यमराज को पता ही नहीं लगेगा । गरुड ने उस चिड़िया को पीठ पर बैठाकर सुमेरुपर्वत की एक गहन गुफा में छिपा दिया । दूसरे दिन फिर यमराज आये, उन्होंने चिड़िया के बैठने के स्थान को फिर देखा । गरुड ने पूछा - क्या देख रहे हो ? यमराज ने कहा कि हम उस चिड़िया को देख रहे हैं कि वह चिड़िया कहाँ है ? उन्होंने कहा कि आपको उसका पता नहीं चलेगा । क्यों देख रहे थे, उस ओर । यमराज ने यह बतलाया कि उसकी मृत्यु सुमेरु पर्वत की एक कन्दरा में होने वाली है । मैं यह देख रहा था कि यह यहाँ बैठी है, इसकी मृत्यु कैसे होगी ? गरुड ने कहा कि हम तो उसको वहीं पहुँचा आये । यमराज बोले कि आपने हमारा काम सरल कर दिया । यह है प्रारब्ध -

तुलसी जस भवितव्यता तैसहि मिलहि सहाय ।
आप न आवे ताहि पै ताहि तहाँ ले जाय ।।

भवितव्यता यानि प्रारब्ध जैसा होता है वैसी ही सहाय हो जाती है और मनुष्य वहीं पहुँच जाता है जहाँ भवितव्यता उसे ले जाती है । यह प्रारब्ध की प्रबलता है । जिसको धन मिलना है, वह मिट्टी उठाता है तो सोना हो जाता है । हमने सुना है कि गाँव में लोग खलिहान में अनाज रखते हैं । फिर उसको उठाते हैं । कोई प्रारब्ध वाले ऐसे होते है, कि उनके सामने

भूसा निकलता ही नहीं है। अनाज ही अनाज निकलता है। खेत में काम करने वाले कहते हैं। बाबू आप चले जाईये। पशुओं के लिए भी हमें भूसा चाहिए। आप तो अनाज ही अनाज गिरा रहे हैं। तो जिस आदमी के प्रारब्ध में धन है, भोग है, वह उसको मिलता है। जिसके प्रारब्ध में नहीं है उसको नहीं मिलता। जितना प्रारब्ध में है, उतना ही मिलता है। इसलिए प्रारब्ध पर विश्वास करो और दूसरी बात यह है कि अगर दुःख आ जाता है, तो घबड़ाये नहीं। संसार में बराबर सुख ही नहीं आता, दुःख भी आता है। दुःख के लिए घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए अधिक विलाप करने की आवश्यकता नहीं हैं। प्रारब्ध के अनुसार आया है, भोग से ही उसका क्षय होगा। क्योंकि प्रारब्ध का भोगों द्वारा ही क्षय होता है।

एक कथा हमने सुनी थी। समर्थ रामदास के दर्शन के लिए शिवाजी गये, उस समय उनको ज्वर आया हुआ था और वह ज्वर से काँप रहे थे। उन्होंने शिवाजी का नाम सुना कि वह मिलने के लिए आये हुए हैं। उनको आवश्यक परामर्श करना है। तो उन्होंने लीला की। अपने योग से ज्वर को कम्बल को दे दिया। उनके स्थान पर कम्बल काँपने लगा और उन्होंने बैठकर शिवाजी से खूब बातें कीं। शिवाजी ने कम्बल की ओर देखा और पूछा - महाराज यह कम्बल कैसे हिल रहा है। समर्थ रामदासजी बोले - मुझे तुम्हारे आने से पहले ज्वर आ गया था। तुमसे बात करने के लिए थोड़ी देर के लिए ज्वर कम्बल को दे रखा है। शिवाजी ने पूछा - जब आप में इतनी शक्ति है कि आप अपने ज्वर को कम्बल में पहुँचा सकते हैं। तो आप उसको हटा ही क्यों नहीं देते, उसको रखे ही किसलिए हैं। इस पर उन्होंने कहा - भाई प्रारब्ध का क्षय तो भोग से ही होगा। इस ज्वर को भोगकर ही समाप्त करना पड़ेगा। हम यदि इसको नहीं भोगेगे तो कभी न कभी इसका हमें सामना करना ही पड़ेगा। इसलिए जो दुःख आ गया। उसका स्वागत करना चाहिए और भोगकर समाप्त कर देना चाहिए।

प्रारब्ध कैसे बनता है, इसको यूँ समझ लीजिए - जैसे किसान के घर

में अनाज रखा है । वह अनाज संचित कहलायेगा । अनाज की बात छोड़ दीजिये । आपके घर में पैसा रखा है, पैसा संचित है । उसमें से कुछ खाने के लिए निकाल लिए, घर खर्च के लिए । वह हो गया प्रारब्ध । कुछ व्यापार में लगा दिए, वह हो गया क्रियमाण । बस तीन प्रकार के कर्म होते है - संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध । होता क्या है - जब प्राणी के मरने का समय आता है, तो उसके अनन्त जन्मों के संचित कर्म उस समय उपस्थित होते हैं और सभी कर्म चाहते हैं कि हमें फल देने का अवसर दिया जाय, लेकिन भगवान् उनमें से कुछ प्रबल कर्मों को चुनकर यह संकल्प कर देते हैं कि इन कर्मों के अनुसार यह प्राणी अमुक योनि में जन्म लेकर इतने वर्ष तक, इतने प्रकार सुख-दुःख का अनुभव करे । यह जो भगवान् का संकल्प है, जिन कर्मों के लिए उसी का नाम प्रारब्ध है । भगवान् का संकल्प उनके साथ जुड़ गया इसलिए वे इतने प्रबल हो जाते हैं । यहाँ तक कि ज्ञान का नाश हो जाता है । लेकिन कर्मों का नाश नहीं होता है । ज्ञानी को भी अपने प्रारब्ध का भोग भोगना ही पड़ता है । जब तक प्रारब्ध रहता है तब तक उसका शरीर रहता है । यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं - **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन** । हे अर्जुन ! ज्ञान का अग्नि सभी कर्मों को भस्मसात् कर देती है । उदाहरण आता है - भगवान् श्रीकृष्ण ने जब महाभारत का युद्ध हो गया तो अपना रथ ले जाकर शिविर में खड़ा किया । अर्जुन से कहा कि रथ से उतर जाओं। प्रतिदिन पहले भगवान् उतरते थे । घोड़ें की लगाम पकड़कर खड़े होते थे, बाद में अर्जुन उतरता था । लेकिन आज भगवान् घोड़ों की लगाम पकड़कर बैठे हुए ही अर्जुन से कहा कि तुम रथ से उतर जाओं। अर्जुन उतर तो गया, लेकिन मन में शंका हुई कि आज भगवान् पहले क्यों नहीं उतरे । मुझे पहले क्यों उतारा । नियम तो यही है कि सारथी पहले उतरता है, रथी बाद में उतरता है । अर्जुन उतरें, अर्जुन के उतरने के बाद भगवान् जब रथ से अलग हुए, तो रथ में आग लग गयी । अर्जुन ने आश्चर्य से

पूछा कि - भगवन् ! यह क्या हुआ । उन्होंने कहा - इसीलिए तो मैंने तुमको पहले उतरने को कहा । क्योंकि बात यह है कि मैंने युद्ध के पहले संकल्प किया था कि जिस रथ से मैं युद्ध कर रहा हूँ, उसी रथ से युद्ध की समाप्ति होगी। बीच में यह रथ नष्ट न हो । यह रथ मेरे संकल्प से ही टिका हुआ था । यद्यपि यह कई बार महारथियों के बाणों से भस्म हो चुका था । लेकिन वह मेरे संकल्प से टिका रहा । अब वह संकल्प पूर्ण हो चुका है, इसीलिए पहले से ही भस्म हुआ यह रथ अब भस्म हो रहा है । इसी तरह ज्ञान की अग्नि से सभी कर्म भस्म हो जाते हैं । लेकिन भगवान् का संकल्प होने के कारण भगवान् उस समय भी शरीर को टिकाये रखते हैं । यह प्रारब्ध के बनने का हेतु है । प्रारब्ध अपने कर्मों से ही बनता है । लेकिन जब वह फलोन्मुख हो जाता है, तो इतना प्रबल होता है कि सामान्य कर्म उसको नहीं बदल पाते हैं । उस प्रारब्ध को बदलने की शक्ति यदि किसी में हैं, तो भगवान् शंकर में है - **भावी मेटि सकहिं त्रिपुरारी** । भगवान् शङ्कर चाहें, तो होनी को मिटा सकते हैं या कोई ऐसा महापुरुष हो, जो आशीर्वाद दे दे, या शाप दे दे । हमसे कोई उत्कट पाप-पुण्य हो जाय तो थोड़ा बहुत अन्तर पड़ सकता है, अन्यथा प्रारब्ध का फल भोगना ही पड़ता है । इस प्रारब्ध को समझकर जो कुछ मिला है, उसी में अपने मन का विनोद कर लेना चाहिए -

मूढ! जहीहि धनागमतृष्णां, कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम् ।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं, वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ॥

हे मूढ़! धनागम की तृष्णा को छोड़ और मन में सद्बुद्धि रूपी तृष्णा बनाओ । तेरे कर्म के अनुसार तुझे कुछ मिल गया है, उसी से अपने मन को संतुष्ट कर ले । यह **विरति चर्म संतोष कृपाना** । सन्तोष रूपी कृपाण से शत्रु पर प्रहार किया जा सकता है और प्रहार बड़ा सक्षम होता है । यदि मन में सन्तोष है, तो सारी दिशाएँ सुखमय हैं । **सदा संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः** । जो मनुष्य संतुष्ट मन वाला है, उसके लिए सब दिशाएँ

सुखमय हैं । जैसे किसी के पैर में जूते हैं, तो शर्करा और कण्टक उसके लिए हैं ही नहीं । कथा आती है कि -

अकबर एक बार शिकार खेलने गया । पैर में काँटे लग गये । बड़ा दु:ख हुआ । कहने लगा बीरबल! हमारे राज्य में जितने काँटे हैं, सबको नष्ट कर दो । बीरबल ने सोचा कि यह काम तो हो ही नहीं सकता कि सारे राज्य के काँटे नष्ट कर दिये जायँ । उन्होंने कहा कि हम प्रयत्न करेंगे । एक महीने का समय दिया । एक महीने में बीरबल ने अच्छा जूता तैयार करवाया और उनको पहना दिया । कहा - देख लीजिए, आपके राज्य में काँटा रहा ही नहीं, सब खत्म हो गया । बस यहीं बात है, अपना मन यदि संतुष्ट हो जाय, तो कहीं किसी प्रकार का दु:ख नहीं है और संतुष्ट नहीं है, तो सभी जगह दु:ख ही दु:ख है । इसलिए संतोषरूपी कृपाण से संसाररूपी शत्रु पर प्रहार करना चाहिए ।

दान परसु बुद्धि सक्ति प्रचंडा । बल विग्यान कठिन कोदंडा ।।

दान, पौरुष, फरसा, ढाल और बुद्धि शक्ति प्रचंड शरीर हैं । दान परसु है कुल्हाडा है, यह संसार वृक्ष है । दानरूपी कुल्हाडे से संसाररूपी वृक्ष को काटना चाहिए । श्रीमद्भगवद्गीता में भी, उपनिषदों में भी वृक्ष को संसार की उपमा दी गयी है । इसका मूल ऊपर है, और शाखायें नीचे हैं । यह सनातन है, सत्य है और श्रीमद्भगवद्गीता में पाठान्तर के साथ **ऊर्ध्वमूलमध:शाख:.....वित्** इस रूप में कहा गया है और श्रीमद्भागवत में भी इसको वृक्ष बतलाया है, यथा -

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरस: पञ्चविध: षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्ष: ।।

यह संसार एक अनादि वृक्ष है । इस वृक्ष का आश्रय है - एक प्रकृति । इसके दो फल हैं - सुख और दु:ख । इसकी तीन जड़ें हैं - सत्त्व, रज और तम, चार रस हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इसके जानने के पाँच प्रकार हैं - श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका । इसके छ: स्वभाव

हैं - पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना । इस वृक्ष की छाल हैं सात धातुएँ - रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र । आठ शाखाएँ हैं - पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार । इसमें मुख आदि नवो द्वार खोड़र हैं । प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय - ये दस प्राण, इसके दस पत्ते हैं । इस संसाररूपी वृक्ष पर दो पक्षी हैं - जीव और ईश्वर । यह ऐसा अनादि वृक्ष है । इस प्रकार संसार की उपमा वृक्ष से जगह-जगह दी गयी है । लेकिन इस वृक्ष के फलने-फूलने देने के लिए इसका वर्णन नहीं किया गया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने इसका विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि -

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

नीचे भी इसकी शाखायें हैं और ऊपर भी गयी हैं । सत्, रज, तम तीनों गुणों से बढ़ी हुई है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध जिसकी कोपलें हैं । अधश्च मूलानि मनुष्यलोके - और इसकी कुछ जड़ें नीचे भी गयी है, जो मनुष्य लोक में कर्म से बाँधती हैं । ऐसे संसार वृक्ष को दृढ़ संकल्प से काटो क्योंकि इसको काटकर परमपद को प्राप्त करने के बाद मनुष्य संसार में नहीं आता । दान मनुष्य तभी कर सकता है, जब उसमें अनासक्ति हो, प्रेम न हो । मन में आसक्ति न हो, ऐसे अवसर पर दिया गया दान सात्त्विक दान है । सात्त्विक दान उसी को कहते हैं, इतना तो हमें देना ही है, यह भाव हो । मनुष्य को अपने आय का पाँच भाग करना चाहिए ।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन् वित्तं इहामुत्र च मोदते ॥

अपनी आय का १/५ हिस्सा धर्म में लगा दे । १/५ यश के काम में

लगाये । १/५ अपने काम में लगाये । १/५ मूलधन की रक्षा के लिए रखे। १/५ स्वजन, बन्धु, बान्धव, नौकरादि के लिए रखे । इसप्रकार जो अपनी आय का पाँच भाग करता है । जो धर्म के लिए पहले निकाल लेता है । वह इस लोक में और परलोक में आनन्द करता है । सात्त्विक दान वह है, जिससे प्रत्युपकार की कोई अपेक्षा न हो । देश, काल, पात्र का विचार करके दान देना चाहिए । ऐसे दान से संसाररूपी वृक्ष कटता है । दान ही प्राणी की दुर्गति का नाश करता है । जो प्राणी दान नहीं करता है, उसको परलोक में कोई सहायता नहीं मिलती । दान ही परलोक में हमारे साथ जाता है ।

कहते हैं कोई कृपण था । वह कभी किसी को दान नहीं देता था । एक महात्मा उसके पास पहुँचे । वह पहले तो देखकर डरा कि यह महात्मा कुछ माँगेगा, लेकिन महात्मा ने कहा डरिये मत । मैं आपके यहाँ अमानत रखने आया हूँ । वह बड़ा खुश हुआ कि अमानत रखने आये हैं। महात्मा ने सोने की सुई निकाल कर दी और कहा सेठजी इस सुई को रख लीजिये, आप हमें परलोक में दे दीजियेगा । सेठजी ने बड़े प्रेम से वह सुई रख ली। अपनी स्त्री से कहा कि यह सोने की सुई सुरक्षापूर्वक रख लो । स्वर्ग में देनी है । वह समझदार थी । उसने कहा आपने अमानत रख तो ली, लेकिन यह विचार नहीं किया कि आप इसको ले कैसे जायेगें । तो सेठ बोला कि मेरे चश्मा के खोल में रख देना । सेठ की पत्नी ने कहा- चश्में का खोल तो यहीं रह जायेगा । सेठ ने कहा - तो मेरे किसी कपड़े में लगा देना । स्त्री ने कहा कि आपके कपड़े भी यहीं उतर जायेगें । सेठ बोला कि बाल में ठूंस देना। स्त्री ने कहा कि बाल भी यही मुड़ जायेगा -

हाड जले जस लाकड़ी केश जले जस घास ।
कञ्चन काया जलि गई कोई न आया पास ।।

आप क्या सोच रहे हैं ? क्या आप यह सुई परलोक ले जा सकेंगे ? सेठ के मन में विचार आया कि जब मैं एक छोटी सी सुई परलोक में नहीं ले जा सकता, तो इतनी बड़ी सम्पत्ति कैसे ले जाऊँगा । दौड़ा, महात्मा के

चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा कि महाराज आपने तो मेरे नेत्र खोल दिये । मुझे यह उपाय बतलाईये कि यह धन-सम्पत्ति कैसे साथ ले जाऊँ । महात्माजी ने कहा कि यह ऐसे नहीं जायेगी । यह तभी जा पायेगी, जब इसका दान कर दो । यह तुम्हारे साथ जायेगी और परलोक में तुमको मिलेगी । जो तुम यहाँ पर जोड़कर रखे हो, चाहे घर में रखे हो या बैंक में रखे हो, यह तुम्हारे साथ जाने वाली नहीं है । मनुष्य जब दान करता है तो उसकी जो दुर्गति परलोक में होने वाली है, वह नहीं होती । यहाँ पर तो हमने सारा इन्तजाम कर लिया, विचार की बात है, जब मनुष्य अपने घर से निकलता है, कहीं यात्रा के लिए जाता है, गंगासागर ही जाय । तो यहाँ से साथ में कुछ बाँध कर ले जाते हैं । किसी स्थान में दर्शन करने जाय या वैसे भी जाय तो पास में कुछ पैसे रख लेते हैं । घर के लोग यदि प्यार करते हैं, तो कुछ खाने पीने को रख देते हैं । हम जहाँ से लौटकर आ सकते हैं, जहाँ से तार, चिट्ठी दे सकते हैं । वहाँ के लिए तो हम प्रबन्ध करते हैं । लेकिन जहाँ से न तार दिया जा सकता है, न चिट्ठी दी जा सकती है और न टेलीफोन किया जा सकता है, वहाँ के लिए कोई प्रबन्ध नहीं है ।

वहाँ के बारे में सोचते ही नहीं । यह निश्चित है कि हमें इस लोक से जाना है । जो व्यक्ति परलोक की बात सोचता है, वह अवश्य दान करता है । दान दुर्गति का विनाश करता है ।

एक और कृपण की कथा आपको सुनाते हैं - एक बहुत ही कृपण था । वह अपने जीवन में कभी कुछ भी दान नहीं किया था । जब वह वृद्ध हो गया और उसके मरने के दिन आये तो उसके लड़के और बहू ने कहा कि पिताजी आप अपने हाथ से कुछ दे जाओ । कृपण ने कहा हम कुछ भी नहीं देंगे । लड़के ने कहा वैतरणी पार करने के लिए गोदान तो कर जाओ । कृपण ने कहा - हम गोदान भी नहीं करेंगे । लोगों ने सोचा कि इससे कुछ तो दान करा देना चाहिए । तो लोगों ने सोने की गाय बनाई

और मिट्टी से ढँककर कृपण से कहा कि मिट्टी का गोदान तो कर दीजिये। कृपण ने कहा मिट्टी की है, तो कोई बात नहीं। अब मिट्टी की गौ उससे दान करा दी। मरने के बाद जब वह यात्रा करते-करते वैतरणी के पास पहुँचा तो जिन प्राणियों ने गोदान किया था। उनकी तो गौ आ गयी। पूँछ पकड़ो और पार हो जाओ। जिसमें पानी का वेग तेज और बड़ी तीव्र धारा, यमदूत कहने लगे कि चलो, इसमें कूदो। हम तुम्हारी पीठ पर चढ़कर आगे बढ़ेगें। अब वह घबड़ाया। जो उसकी मिट्टी वाली गौ थी, वह आयी, तो उसने उसकी पूँछ पकड़ी उसके भीतर सोना था। वह सरकी, चली लेकिन पानी के भीतर पहुँची तो उसकी मिट्टी धुली। मिट्टी धुलते ही सोना दिखलाई पड़ने लगा। वहाँ उसे अफसोस हुआ। कहने लगा हमारे घर वालों ने हमसे बड़ा धोखा किया। हमसे सोना दान करा दिया। इसने अपना दुःख नहीं देखा, उसने यह देखा कि सोना क्यों दान करा दिया। उसे यहाँ भी पश्चात्ताप हुआ। उसके मन की यह कृपणता दूर करके दान संसाररूपी वृक्ष को काटने का कुठार है, और भगवान् श्री राघवेन्द्र तो दान के लिए परमवीर हैं। भगवान् राम के जीवन के सन्दर्भ में आता है कि उनके पास कोई माँगने के लिए जाता था। कोई याचक जाता था धन लेने, तो वह कहते थे -

आपदामेकमागारं किं नु वाञ्छसि वै धनम्।
इत्युक्त्वा निजसर्वस्वं अर्थिने सम्प्रयच्छति॥

भगवान् श्रीराम से जब कोई धन माँगता था। तो वह कहते थे - आपत्ति का कारण एकमात्र धन ही है, धन क्यों माँग रहा है। धन में तो आपत्ति ही आपत्ति है -

अर्थानां अर्जने दुखं तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् दुःखदायकान्॥

अर्थ के अर्जन में दुःख, उसकी रक्षा में दुःख, नाश होने पर दुःख, खर्च होने पर दुःख, दुःख ही दुःख तो है। राजा से डर, चोर से डर,

अपने स्वजनों से डर, स्वजन कही बँटा न लें, पशुओं से डर, पक्षियों से डर, काल से डर, यहाँ तक कि अपने से भी डर और यहाँ तक कहा गया है कि - अपने बेटे से भी डर, कहीं यह धन छीनकर हमको मार न डाले। भगवान् कहते थे कि उस आपत्ति के घर की याचना मुझसे क्यों कर रहे हो। लेकिन आज के लोग भी जितने धनी होते हैं, उनके यहाँ कोई माँगने जाय तो पहले तो वह भाषण ही देते हैं। अच्छी तरह सुनाते हैं उसको। एक बार हमलोगों की यहीं की घटना है। गंगाघाट पर यज्ञ हो रहा था। चण्डी शास्त्री किसी को बुला लाये। उन्होंने आकर देखा कि यज्ञ हो रहा है, इसमें यह लोग हमसे कहेंगे कि दान दो। आते ही भाषण देने लगे कि आप लोगों को बाढ़ पीड़ितों के लिए भी कुछ करना चाहिए, भूकंप पीड़ितों के लिए कुछ करना चाहिए। यज्ञ में ही सब कर रहे हो। वह उन्हीं को सब कहकर चले गये। अपने पास दान के लिए एक पाई नहीं है।

ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है और ज्ञान के बारे में बतलाया गया है कि -

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिन्द्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

उसके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। उसके समस्त संशय क्षीण हो जाते हैं। कर्मों का भी क्षय हो जाता है, जब परावर का दर्शन हो जाता है। ये ब्रह्मा, विष्णु आदि जो देवता हैं, परब्रह्म से भी छोटे हैं। परम ब्रह्म परमात्मा को परावर कहते है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी जिनसे छोटे हैं, उस परमपिता परमेश्वर को परावर कहते हैं। उसका साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। संशय क्षीण हो गये और कर्मों का नाश हो गया, तो प्राणी जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। इसप्रकार संसार का अन्त हो जाता है। तब वह ज्ञान बुद्धि से होता है। इस विषय में दो पक्ष हैं। कुछ विद्वान् यह मानते है कि ज्ञान महावाक्य के श्रवण से होता है, तो यह थोड़ा आपको समझाना पड़ेगा, तब स्पष्ट होगा। यह समझ लीजिए की आप

जंगल में गये और आपने पहले सुना है कि **गो सदृशोगवयः** गवय गौ के समान होता है । आपने जंगल में ऐसा जानवर देखा, जो गौ के समान है । देखते ही आप समझ जायेंगे कि यह गवय है क्योंकि गौ सदृश गवय जैसा वाक्य आप किसी आप्त पुरुष से सुन चुके हैं । इसलिए आपके मन में यह संस्कार कि गवय गौ के समान होता है । जब गवय पदार्थ आपके सामने आता है, तो आप सहज में कहीं कह देते हैं बिना किसी के बताये कि गवय । गवय का साक्षात्कार केवल दृष्टि से होगा । इसीप्रकार जिस व्यक्ति ने वेदान्त शास्त्र का किसी श्रेष्ठ गुरु से श्रवण किया है, उस व्यक्ति की बुद्धि जब शान्त और समाहित होती है। तो उस समय वह आत्मा स्वरूप का दर्शन सहज में कर लेती है । क्योंकि उसको वेदान्त के श्रवण के संस्कार हैं । तो उदाहरण दिया है - जैसे जौहरी अपनी आँख से ही देखकर बतला देते हैं कि यह रत्न कौन-सा है और कितने मूल्य का है । आँख से हम भी रत्न को देखते हैं और जौहरी भी देखता है । लेकिन हम नहीं बतला सकते, जौहरी बतला देता है । इसका कारण यह है कि - **रत्नशास्त्रार्थज्ञानजन्य-संस्कारसंचितमनस्युक्तम्** नेत्र से वह जौहरी रत्न तत्व को जानता है और दूसरा उदाहरण है - षडजत्व का साक्षात्कार । जैसे कोई संगीत जानने वाला जब कोई शास्त्रीय संगीत सुनता है, तो सुनते ही पहचान जाता है कि कौन-सा राग है और इसमें क्या त्रुटि है । क्या ठीक है, उसको षडजत्व का साक्षात्कार केवल श्रोत्र से होता है । तो साधारण लोग भी सुनते हैं और जिसने गान्धर्व शास्त्र का अभ्यास किया है, वह भी सुनता है । उसको साक्षात्कार हो जाता है । सामान्य लोगों को इसलिए नहीं होता है कि गान्धर्वशास्त्रार्थ-अभ्यासजन्यसंस्कार से संयुक्त मन से युक्त श्रोत्र उसके पास नहीं है । उसके पाठ नहीं है, केवल स्तोत्र है । गान्धर्व शास्त्र के नियम संस्कार नहीं है । इसीप्रकार वेदान्तशास्त्राभ्यासजन्यसंस्कार सचिव मन या बुद्धि से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है । यह ज्ञान व बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है ।

आत्मा यदि कोई जड़ वस्तु हो, तब तो उसका ज्ञान अन्तःकरण से हो

सकता है । अन्त:करण उसका आवरण दूर कर देगा । प्रकाश कर देगा। किन्तु आत्मा तो स्वयं प्रकाश है, तो प्रकाश अन्त:करण कैसे प्रकाशित करेगा । यहाँ पर तो यह बतलाया गया है कि -

ब्रह्म में अज्ञान के नाश के लिए केवल वृत्ति व्याप्ति की अपेक्षा है, फलव्याप्तत्व को शास्त्रों ने निवारित कर रखा है । अर्थात् अब दूसरा उदाहरण ले लीजिए - घड़े के नीचे नारियल छिपाकर रखा है तो उसमें दो काम करने पड़ेगें । घड़े को हटाइये और नारियल को प्रकाश से देखिये । लेकिन अगर घड़े के अन्दर मणि रखी है, तो आपको केवल एक काम करना पड़ेगा । घड़े को हटा दीजिए । मणि में कोई प्रकाश ले जाकर देखने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है । इसीप्रकार ब्रह्म में केवल आवरण है, वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है । इसलिए आवरण को भंग करने के लिए वृत्ति की आवश्यकता है । जो बुद्धि है, वृत्ति बनकर हमारे आवरण को नष्ट कर देती है । आवरण भी दो प्रकार का होता है । आवरण से अज्ञान होता है । आवरण के दो रूप होते हैं, एक होता है अशक्तयापादो आवरण और दूसरा होता अभानापादक आवरण । अशक्त्यापादो आवरण ब्रह्मनास्ति - ब्रह्म नहीं है । इस तरह का जो आवरण है, यह अशक्त्यापाद है और ब्रह्मनाभाति ब्रह्म का हमको भान नहीं हो रहा है, यह अभानापादक आवरण है । पहले परोक्ष ज्ञान होता है । परोक्ष ज्ञान से उसका अशक्तोपादक दूर होता है और फिर इसके बाद अपरोक्ष ज्ञान होता है । उससे अभानापाद दूर होता है । तो उदाहरण दिया जाता है कि दस मनुष्य चले जा रहे थे, यात्रा में । रास्ते में एक नदी पड़ी, उन्होंने नदी को पार किया । नदी पार कर ली, तो किसी ने कहा गिनकर देख लो, हमलोग दस हैं या नहीं । हममें से कोई रह तो नहीं गया । एक ने गिनना प्रारम्भ किया - एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ:, सात, आठ, नौ । नौ ही मिले भाई । दसवाँ कहाँ गया। दूसरे ने गिना उसको भी नौ, तीसरे ने भी नौ गिने । अब वे लोग रोने लगे । हाय, हमारा दसवाँ खो गया, दसवाँ कहाँ गया । मन में चिन्ता

कर ही रहे थे कि इतने में एक महात्मा आये । महात्मा ने पूछा भाई! क्यों रो रहे हो । वे बोले महाराज हमारा दसवाँ खो गया । लगता है नदी में बह गया । महात्मा बोले - दसवाँ है । महाराज है ? हाँ, बडी प्रसन्नता की बात है लेकिन दिखाई नहीं पड़ रहा है, उसको हमें दिखलाइये । जिससे हमें शान्ति मिले । महात्मा ने कहा मैं तुम्हारे बीच में खड़ा हो जाता हूँ तुम मेरे आस-पास खड़े हो जाओ । मैं तुम्हें दसवें का दर्शन कराता हूँ । वे सब खड़े हो गये । महात्मा ने गिनना प्रारम्भ किया - एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और हल्की सी चपत लगाई, कहा - दसवाँ तूँ। सबको गिनकर बता दिया और कहा कि गिनने वाला स्वयं अपने को नहीं गिन रहा था । तो जैसे ही महाराज ने कहा दशमः त्वं असि तो उनको जो असत्त्वापादक का आवरण था, वह तो पहले ही निकल चुका था । दशमः अस्ति इस वाक्य से, दशमः त्वं असि यह वाक्य सुना, तो उनको अभानापादक जो था, वह भी नष्ट हो गया । तो असत्वापादक आवरण दूर करने वाला परोक्ष ज्ञान बुद्धि और अभानापादक आवरण को नष्ट करने वाला ब्रह्मसाक्षात्कार है - विज्ञान है -

दान परसु बल सक्ति प्रचंडा । वर विज्ञान कठिन कोदंडा ।।

बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है और श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है ।

श्रीराम जय राम जय जय राम ।
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ।

ॐ

चतुर्थ दिवस

उपस्थित विद्वत् बंधुओं, देवियों और सज्जनों,

भगवान् श्री राघवेन्द्र अपने प्रिय सखा विभीषण को सान्त्वना देते हुए, आश्वस्त करते हुए उस धर्मरथ का वर्णन कर रहे हैं, जिस रथ पर बैठकर मनुष्य अजेय शत्रु संसार को पराजित कर सकता है । मनुष्य संसार में सदा दु:ख का ही अनुभव करता है । श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म ज्ञान के लक्षण में बतलाया है कि जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि; इनके दु:ख और दोष का दर्शन अध्यात्म ज्ञान का साधन है । मनुष्य नहीं चाहता कि हम मरें, मृत्यु से सब लोग डरते हैं । फिर भी मृत्यु आती ही है । मृत्यु से कोई बच नहीं पाता, यही सबसे बड़ा दु:ख है । उसके बाद दूसरा दु:ख है, वृद्धावस्था । वृद्धावस्था भी कोई नहीं चाहता, परन्तु देखते ही देखते वह आ जाती है । **देखत ही आई विरुधाई, जो तेहि सपनेहुँ नाहिं बुलाई** । गोस्वामी जी कहते हैं कि जिसको तूने सपने में भी नहीं बुलाया, वह आ गयी । वृद्धावस्था में प्राणी की बड़ी विचित्र दशा हो जाती है । भगवान् शङ्कराचार्य ने उसका चित्रण किया है -

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।।

अंग गलित हो गये, बाल सफेद हो गये, मुँह में एक भी दांत नहीं बचा और वृद्ध होकर हाथ में दण्ड लेकर चलता है । परन्तु आशा अभी भी पिण्ड नहीं छोड़ रही है । घर के लोग उसकी उपेक्षा करने लगते हैं । ऐसी परम दु:खित वृद्धावस्था कोई नहीं चाहता, फिर भी वह आती है । रोग आते हैं, शोक के अनेक अवसर आते हैं । मन में चिन्ताएँ होती हैं, मरने से पहले भयंकर वेदना होती है । कई तो वर्षों बीमार रहते हैं और जन्म

लेने से पहले गर्भावस्था में रहना पड़ता है । इन सब दु:खों का निदान हमारे दर्शनशास्त्रों ने बतलाया कि हम इसलिए मरते है कि हम जन्म लेते हैं और बुढ़ापा इसलिए आती है, कि हमने जन्म लिया है । इसीकारण रोग, शोक आते हैं । मानसिक चिन्ताएँ आती हैं, क्योंकि हमने जन्म लिया है । जन्म के साथ इन सब दु:खों का सम्बन्ध है । इसलिए सबसे बड़ा दु:ख जन्म है । हमने आपको यह बतलाया कि गर्भावस्था भी जन्म के साथ जुड़ी हुई है । उसमें भी प्राणी को बड़ा कष्ट होता है । क्योंकि जन्म यदि एक बार हो जाये और एक बार मृत्यु हो जाये तो न जन्म लेना पड़े न मरना पड़े । ऐसी स्थिति में जन्म लेना भी ठीक है । एक बार का दु:ख प्राणी भोग ले, लेकिन यह तो अनवरत चल रहा है । इसकी जो अविछिन्न शृङ्खला है, इस शृङ्खला का नाम ही संसार है । भगवान् शङ्कराचार्य जी ने कहा है कि -

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे ।।

पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, फिर जन्म लेना, फिर मरना, फिर माता के गर्भ में निवास करना फिर जन्म लेना और कब कौन सी जननी मिलेगी इसका भी कोई ठिकाना नहीं । यह कोई आवश्यक नहीं है कि मनुष्य मनुष्य के बाद मनुष्य योनि में ही जाता है । कूकर, सूकर, कीट, पतंग, श्वान आदि विविध योनियों में भी जा सकता है । कोई भी इसकी माता बन सकती है, कूकरी, सूकरी के पेट में भी रहना पड़ सकता है । भगवान् श्रीराम कह रहे हैं - लड़ना इस संसार से है । रावण से नहीं लड़ना है । रावण शत्रु नहीं है । संसार शत्रु है । तो उस शत्रु को मारने के लिए, अपने पास ऐसे अस्त्र चाहिए जिनसे वह पराजित किया जा सके और अस्त्रों में आपको बतलाया कि विरति चर्म संतोष कृपाना, विरति की ढ़ाल और संतोष की कृपाण, उससे लड़ने के लिये । फिर आगे बतलाया कि इसको मारने के लिए, दूर से मारने के लिए दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा । दान तो है

परसु अर्थात् फरसा द्वारा पास से ही मारा जाता है। शक्ति द्वारा दूर से भी मारा जा सकता है । वह शक्ति है, बुद्धि । हम साथ-साथ यह बतलाते जा रहे हैं कि रथ के जितने भी अंग हैं, वे सब श्रीराम के चरित्र में परिलक्षित होते हैं । दान की चर्चा हमने कल की थी, किस प्रकार भगवान् याचकों को दान देते थे । भगवान् राम के वनगमन के समय कथा आती है कि - उनके पास जितना रत्न, धन और सम्पत्ति थी । उन्होंने वन जाने से पहले सब कुछ दे दिया। भगवान् जब सब कुछ दे चुके, तो एक त्रिजट नाम का ब्राह्मण आया, जो बहुत दरिद्र तथा तपस्वी था । उसकी स्त्री ने कहा - इस समय राम दान कर रहे हैं, आप क्यों नहीं जाते ? आपको भी मिल जायेगा, वह गया और कहने लगा, महाराज हमको भी कुछ दीजिए । वह सबसे पीछे पहुँचा, तो भगवान् बोले कि महाराज आप तो बहुत पीछे आये, हम तो सब कुछ दे चुके । ब्राह्मण बोले कि कुछ तो हमको भी मिलना चाहिए । राम बोले कि मेरे पास तो असंख्य गऊएँ हैं, वह उनका स्वयं का धन था, वे युवराज थे, ज्येष्ठ पुत्र थे, तो बहुत बड़ी सम्पत्ति उनके पास थी। राम ने कहा महाराज आपको क्या गिनना, हमको जल्दी जाना है । आप अपना डंडा फेंकिये, जहाँ तक आपका डण्डा पहुँच जाय, वहाँ तक की गऊएँ ले जाइये । कहते हैं कि ब्राह्मण ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर डण्डा फेंका, इतने जोरों से फेंका कि वह सरयू के उस पार जाकर गिरा । उसके बीच की सारी गायें उसको मिल गई । कहते हैं, उसी की सन्तान सरयूपारीण ब्राह्मण हो गये । इसप्रकार भगवान् दान के द्वारा दानरूपी परसु से संसाररूपी शत्रु पर प्रहार करने में सक्षम हुए और कल हमने बुद्धि की चर्चा की थी, बुद्धि का अर्थ यहाँ ज्ञान है । ज्ञान क्या है ? वह बतलाया था, कि चिदाभासयुक्त जो अन्त:करण की वृत्ति है, उसी का नाम ज्ञान है । बुद्धि से ज्ञान होता है । यद्यपि ये बातें सीधे-सीधे नहीं कहीं जा सकतीं, क्योंकि बुद्धि कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष में तो आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा; ये प्रमाण हैं और शाब्दिक प्रत्यक्ष में शब्द प्रमाण है । प्रमा का करण

प्रमाण होता है । प्रमा कहते हैं, यथार्थ ज्ञान को । उस यथार्थ ज्ञान का साधन प्रमाण कहलाता है। बुद्धि से यथार्थ ज्ञान नहीं होता, रूप का यथार्थ ज्ञान नेत्रों से होता है । शब्द का यथार्थ ज्ञान श्रोत्र से होगा । रस का यथार्थ ज्ञान रसना से होगा । गंध का यथार्थ ज्ञान नासिका से होगा । स्पर्श का यथार्थ ज्ञान त्वचा से होगा और शब्द का यथार्थ ज्ञान श्रोत्र से होगा । इसप्रकार प्रत्यक्ष में ये पाँच ही प्रमाण माने जाते हैं और इसके बाद आ जाता है, अनुमान । फिर आगम और प्रत्यक्ष ये तीन प्रमाण मुख्य माने जाते हैं । प्रत्यक्ष में बुद्धि का सन्निवेश नहीं है, आवश्यकता तो है, लेकिन वह कर्ण नहीं है । हम पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं । अविच्छिन्नधूम्रलेखा जब दृष्टिगोचर होती है, तो धूम्रलेखा के आधार पर हम कहते हैं पर्वतो वह्निमान् । यहाँ हेतु क्या है ? धूम । क्योंकि हमने देखा - यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः । जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होता है । रसोईघर में हमने दोनों का साहचर्य देखा है । ऐसी स्थिति में जहाँ हम धूम को देखते हैं, उस आधार पर वहाँ हम अग्नि का अनुमान कर लेते हैं । यहाँ अनुमिति का कारण अनुमान है । यह परामर्श है, धुआँ व्याप्त वह्निमान् पर्वत । इसप्रकार यह ज्ञान हुआ कि पर्वत में धूम है । इसी तरह और भी प्रमाण हैं । शब्द भी प्रमाण होता है । शब्द से हमें परोक्ष वस्तुओं का ज्ञान होता है । धर्म-अधर्म का ज्ञान होता है । ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि बुद्धि के द्वारा परमात्म तत्त्व का ज्ञान कैसे हो सकता है ? परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? यह विचारणीय विषय है। हमें दो प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं । एक तो वे वचन हैं, जिनमें मन या बुद्धि का प्रवेश नहीं है । परमात्मा के स्वरूप में -

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यं मनसा सह ।

जिसको बिना प्राप्त किये मन के सहित बुद्धि लौट आती है, उसको तुम ब्रह्म जानो, जिसका तुम इदन्तया उपासन कर रहे हो, वह ब्रह्म नहीं । इसी बात को गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

मन समेत जहँ जाहिं न वाणी। तर्कि न सहहिं सकल अनुमानी ॥

जहाँ मन सहित वाणी का प्रवेश ही नहीं, तो मन वाणी का अगोचर है परमात्मा । श्रुतियों में यह प्रसिद्ध है, किन्तु साथ ही साथ ऐसी भी श्रुतियाँ मिलती हैं, जिनमें लिखा है, कि इस परमात्मा को मन से ही जानना चाहिए । तो यहाँ मन एक प्रकार से साधन हो गया । कौन सा मन साधन हो गया, इस सम्बन्ध में विचारणीय हैं कि बुद्धि जड़ है, आत्मा चैतन्य है। तो चैतन्य आत्मा को जड़ बुद्धि कैसी जान सकती है । जड़ बुद्धि में वह शक्ति नहीं, जो आत्मा को जान सके और यदि आत्मा बुद्धि के द्वारा जाना जाता है, तो आत्मा हो गया ज्ञेय । ब्रह्म किसी का दृश्य बन नहीं सकता तो फिर बुद्धि ब्रह्म को कैसे जानती है? यह एक प्रश्न बना रहता है । जिसका समाधान हमने संक्षेप में सूत्र रूप में कल सुनाया थां कि सामान्य बुद्धि उस परमात्मा को जानने में निश्चित रूप से असमर्थ है । परन्तु वेदान्त शास्त्रार्थाभ्यास संस्कार जन्य संस्कृत जो बुद्धि है, उस बुद्धि से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। बुद्धि ही विवेक कराती है । विवेक कराते-कराते हमें उस स्थिति में पहुँचा देती है । जहाँ जाकर ब्रह्म का साक्षात्कार सहज में ही हो जाता है । ब्रह्म का साक्षात्कार क्या है? जैसे हम किसी मनुष्य को देखते हैं और कहते हैं कि हमने आपका साक्षात्कार किया, आपसे हम मिले, उसप्रकार ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं हुआ ।

इसप्रकार ब्रह्म किसी को गोचर नहीं होता है, इन्द्रियों और मन के द्वारा वह नहीं जाना जा सकता, तो ब्रह्म का साक्षात्कार क्या है ? वस्तुत: स्थिति यह है कि ब्रह्म को सब जानते हैं । किस रूप में जानते है, जिस तत्व के रूप में श्रुतियों ने आत्मा को बतलाया है और आत्मा सबको विदित है । मैं हूँ, यह कौन नहीं जानता, सब कहते हैं कि मैं हूँ । भगवान् के सम्बन्ध में तो लोग प्रश्न करते हुए कहते हैं कि महाराज भगवान् हैं कि नहीं? तो हम उनसे यही पूछते हैं कि तुम हो कि नहीं । अगर तुम हो तो भगवान् भी हैं । क्योंकि पहले अपने आपको देखो, मैं कौन हूँ ? तो अहमस्मि, इस

बात का सभी को ज्ञान है, मैं हूँ । लेकिन उसके साथ जब 'मैं' लगा है । अस्मि के साथ अहं अस्मि । तो मैं का अनुसंधान करना चाहिए । जिसे 'अस्ति' रूप से प्राप्त किया जा सकता है । अस्ति माने 'है' । उसको उत्तम पुरुष में 'अस्मि' कहेंगे और अन्यपुरुष में 'अस्ति' कहेंगे । तो मैं हूँ, उसमें से उपाधि निकालते जाओ और सत्ता को लेते जाओ । पहले हम सत्ता के साथ शरीर को मिलाये रहते हैं, शरीर के साथ 'मैं' को जोड़कर कहते हैं, मैं हूँ अर्थात् ये साढ़े तीन हाथ का पञ्चभौतिक शरीर है । इसी को हम आत्मा समझते हैं । मनुष्य अपने बारे में सोचता है, तो लगता है कि शरीर तो आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि शरीर तो जिसको यह कह रहे हैं । इसे हम स्थूल रूप में जानते हैं ।

जो स्वाभाविक रूप से हमसे पृथक् है । अपने आप को कोई नहीं जान सकता । अपने से भिन्न को ही जान सकता है । अपने आप को जानना कर्तृकर्मविरोध है । कर्तृकर्मविरोध उसको कहते हैं कि वही कर्ता, वही कर्म दोनों चीजें हो नहीं सकतीं । हम यही कह सकते हैं - देवदत्तः ग्रामम् गच्छति । देवदत्त ग्राम को जाता है । देवदत्त कर्ता है, ग्राम कर्म है । यह कोई नहीं कह सकता कि देवदत्तः स्वं गच्छति । देवदत्त ग्राम को जाता है । तो कह सकते हैं । लेकिन देवदत्त स्वयं को जाता है, न यह नहीं बन सकता; क्योंकि अपने कंधे पर कोई नहीं चढ़ सकता । अपने कंधों पर नहीं चढ़ सकता तो फिर अपने आपको कैसे जानेगा । हम शरीर को जान रहे हैं । तो इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर हमसे पृथक् है । इसीप्रकार प्राण को हम जानते हैं । शरीर को संचालित करने वाली शक्ति जो है, वह प्राण है । प्राण भी हमसे पृथक् है । मन को जानते हैं, मन भी पृथक् है । महात्मा लोग बतलाते हैं, समाधि की विधि । कैसे समाधि लगाई जाय, कैसे आत्मदर्शन किया जाय, तो यह बताते हैं कि पहले स्थिर आसन से बैठ जाय, शान्तिपूर्वक थोड़ी देर स्थिर बैठे रहने पर अपने आप अपने को शरीर मालूम पड़ने लगेगा । मन से यह शरीर है तो शरीर जिस समय

हमारा ध्येय बन जाये, समझ लेना चाहिए कि हम शरीर से अलग हो गये। फिर मन में यह आयेगा कि इस शरीर को चलाने वाला, हाथ पैर उठाने वाला, रखने वाला, मैं हूँ तो हम प्राण में चले गये । प्राण के साथ एक हो गये, उस प्राण में दृष्टि केन्द्रित कर दिया तो थोड़ी देर तक प्राण में दृष्टि केन्द्रित करने पर प्राण भी आत्मा से पृथक् प्रतीत होने लगेगा । फिर हमको लगेगा कि इस प्राण को भी प्रेरित करने वाला, संकल्प करने वाला, मैं हूँ। तो इसका अर्थ यह है कि हम मन के साथ जुड़ गये । उस मन को भी देखने लग जाये, मन में भी अपनी दृष्टि केन्द्रित कर दी जाय तो मन भी अपनी आत्मा से पृथक् होने लगेगा । फिर यह मन में विचार आयेगा कि यह संकल्पात्मक, विकल्पात्मक प्रेरित करने वाला निश्चयकर्ता मैं हूँ, तो इसका अर्थ यह हुआ, कि हम बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न हो गये । अब हम बुद्धि में दृष्टि को केन्द्रित कर दें, तो बुद्धि भी अपने आपसे पृथक् प्रतीत होने लगेगी ।

जहाँ शरीर, प्राण, मन, बुद्धि इन सबको अपनी आत्मा से अलग किया, यह जो झूठा मैं था, जिसको हम अहंकार कहते हैं, जड़-चेतन की ग्रन्थि कहते हैं, यह मैं समाप्त हो जायेगा । इसके समाप्त होते ही शून्य का अनुभव होगा । परन्तु इस शून्य का अनुभव कौन कर रहा है? शून्य का भी तो कोई अनुभव करता है । तो जिसके द्वारा शून्य का अनुभव हो रहा है, वह शून्य नहीं है । वह पूर्ण है, तो उसमें अपना चित्त स्थिर करके फिर उसको विचलित न होने दे । आत्मा में अपने मन को स्थिर करके कुछ भी चिन्ता न करें, इस समाधि में । समाधि में जो अनुभव होगा। उस समय वेदान्त के संस्कार से युक्त इस अनुभव को समझ लेना कि यही ब्रह्म है और जिसमें वेदान्त के संस्कार नहीं हैं, तो वह समाधि का अनुभव करेगा। सुख का अनुभव करेगा । लेकिन यह ब्रह्म है, इस बात का उसको ज्ञान नहीं होगा । इसलिए उस बुद्धि से परमात्मा का दर्शन होता है, जो वेदान्त शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न होने वाले संस्कारों से संस्कृत होती है । ऐसी

मति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है । इसीलिए कहा - **मति ना लखै जेहि गति लखै,** जो बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जाता । हम दूसरे ढंग से इसका अर्थ कर रहे हैं कि जो बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जाता (सामान्य बुद्धि के द्वारा) परन्तु वेदान्त शास्त्र के द्वारा जाना जाता है । तो ऐसी बुद्धि ही **दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा** ऐसी शक्ति है, जिसके लगने से शत्रु रह ही नहीं सकता । जिस समय मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है, उस आत्मज्ञान के होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है । अज्ञान नष्ट होता है, कर्तृत्त्व भोक्तृत्व का नाश होता है । तो कर्मों के नाश से कर्तृत्व भोक्तृत्व का नाश होता है और कर्म के नाश से, जन्म के नाश होने से संसार का नाश हो जाता है । इसप्रकार यह ऐसी शक्ति है, जिसके लगने पर संसार शत्रु बच नहीं सकता । दूसरा पक्ष भी है उसे भी समझ लेना चाहिए । जिसमें यह माना जाता है कि मन और बुद्धि उस परमात्मा को नहीं जान सकते हैं । मन, बुद्धि को तो हमें निर्विषय बनाना पड़ेगा, इनके व्यापारों को समाप्त करना पड़ेगा, फिर तो इनका व्यापार शांत हो जाता है । जब पदार्थ का विवेक हो जाता है तो महावाक्य के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । उसकी प्रक्रिया यह है, कि पहले मनुष्य साधनचतुष्ट्य सम्पन्न अधिकारी बने । विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा, ये साधन चतुष्ट्य कहलाते हैं । इनके द्वारा अपने चित्त को शांत पवित्र बनाये । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर, उनसे प्रश्न करे । वे उस प्रश्न का उत्तर देते हुए उसको महावाक्य का उपदेश करेंगे । महावाक्य उस वचन को कहते हैं, जो जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते है । हमारे उपनिषदों में, श्रुतियों में दो प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं । एक होता है सामान्य वाक्य और दूसरा होता है महावाक्य । सामान्य वाक्य है -**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेदनिहितं गुहायां...।**

जो ब्रह्म है, वह कैसा है ? सत्य है । बृंह् धातु से ब्रह्म शब्द की निष्पत्ति होती है । ब्रह्म सत्य है । अर्थात् त्रिकाल में - भूत, भविष्यत्, वर्तमान में सतत शाश्वत है । साथ ही साथ ज्ञान का स्वरूप स्वयं प्रकाश

है । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । किसी भी वस्तु का तीन प्रकार से अन्त होता है । जिसको परिच्छेद कहते हैं । देश से, काल से, वस्तु से । जैसे हम देखते हैं कि कोई वस्तु किसी देश में है, किसी देश में नहीं है । देश से उसका अन्त हो गया और कोई वस्तु किसी काल में है किसी काल में नहीं है । हम यह देखते हैं कि इस समय हम लोग हॉल में बैठे हैं। यहाँ तो हैं, लेकिन घर में नहीं हैं । देश का अन्त हो गया और मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर होता है । मनुष्य किसी समय रहता है । किसी काल में जन्म लेता है और किसी काल में उसका अभाव हो जाता है । तो काल से उसका अन्त होता है और मनुष्य एक रूप में है, दूसरे रूप में नहीं है । तो वस्तु के रूप में उसका अंत हो गया, इसी को परिच्छेद कहते हैं । देश परिच्छेद, काल परिच्छेद और वस्तु परिच्छेद, लेकिन ब्रह्म ऐसा है कि जिसमें देश का परिच्छेद नहीं है । ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ पर ब्रह्म न हो । सर्वत्र ब्रह्म है । ब्रह्म का अस्तित्व सब जगह है, और यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि ब्रह्म आत्मा है । कोई भी कल्पना कीजिए आप, किसी भी देश की, किसी भी काल की । वह कल्पना देश और काल के किसी भी कल्प के अधीन होगी । वह आत्मा देश और काल को पहले से ही जानता है । इसलिए माना जाता है कि परमात्मा एक स्थान पर बैठा-बैठा ही दौड़ने वालों को पीछे कर देता है । ईशावास्योपनिषद में कहा गया है कि - एक स्थान पर रहता हुआ भी यह दौड़ने वाले जो मन, बुद्धि हैं, उनको पीछे कर देता है । क्योंकि वे जहाँ भी जायेंगे, ब्रह्म पहले से ही वहाँ विद्यमान है । कार्य कहाँ तक भागेगा, वह तो कारण में ही रहेगा। कारण से पृथक् होकर जायेगा कहाँ । ब्रह्म में देश कृत परिच्छेद नहीं है । ब्रह्म की कभी उत्पत्ति नहीं हुई । इसलिए काल कृत परिच्छेद भी नहीं होगा क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है, उससे भिन्न होकर किसी वस्तु की सत्ता नहीं है । इसलिए उसमें वस्तु परिच्छेद भी नहीं है। जिसमें देश, काल, वस्तु का परिच्छेद न हो, उसे अनन्त कहते हैं । ब्रह्म शब्द के साथ सत्यं

ज्ञानम् अनन्तम् ये तीन पद लगे हुए हैं । अनन्त शब्द लगने के कारण ब्रह्म कितना बड़ा है, कितना वृहद् है । यदि कोई पूछे तो कहना होगा कि जिससे बढ़कर कोई वृहत्ता की कल्पना न हो सके, वह ब्रह्म है । कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी शब्द के अर्थ में संकोच करना पड़ता है । जैसे किसी विशिष्ट पुरुष ने, पिता ने, गुरु ने आज्ञा दी - सर्वे ब्राह्मणा: भोजनीया: । सब ब्राह्मणों को भोजन कराओ, तो जितने भी ब्राह्मण संसार में है, उन सबको हम भोजन कैसे कराये ? यह सम्भव नहीं है । असम्भव होने के कारण सर्वे शब्द के पहले निमन्त्रिता: सर्वे ब्राह्मणा: भोजनीया: कहना पड़ेगा । जो निमन्त्रित ब्राह्मण हैं, उनमें से सबको भोजन कराओ । यहाँ निमन्त्रित कहकर सर्व शब्द में संकोच कर दिया गया है । लेकिन ब्रह्म के पहले अनन्त पद है । इसलिए ब्रह्म शब्द की वृहत्ता में संकोच नहीं किया जा सकता । ऐसा है - **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम्** । जो उसको अपनी बुद्धि रूपी गुहा में जानता है, वह तो समस्त कामों का अनुभव करता है । समस्त इच्छित वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है । सा ब्राह्मणा विपश्चते इति । विपश्चि ब्रह्म के साथ समस्त भोगों को प्राप्त करता है । समस्त भोगों से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख ब्रह्म के दर्शन करने वाले को प्राप्त होता है । श्रीमद्भगवद्गीता में बतलाया गया है कि -

यावानर्थ उदपाने सर्वत: सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत: ।।

सब ओर से भरे पूरे अमृतमय समुद्र के प्राप्त हो जाने पर जो प्रयोजन क्षुद्र जलाशय में रह जाता है, उसी प्रकार तत्त्वदर्शी ब्राह्मण का वेदों में प्रयोजन रह जाता है । यहाँ वेद शब्द का अर्थ सीधे-सीधे नहीं है । यहाँ वेद का अर्थ है, वेदोक्त कर्म, वह भी प्रकारान्तर से इसकी लक्षणा होगी । वेदोक्त सकामकर्म का जो फल है, उसमें उसका उतना ही प्रयोजन रह जाता है, जितना अमृतमय समुद्र को प्राप्त कर लेने पर क्षुद्र जलाशय में रह जाता है । जिसने परम ब्रह्म को जान लिया, उसने जितना भी संसार का सुख है,

वह सब प्राप्त कर लिया, शेष कुछ है नहीं, ऐसी स्थिति उसकी हो जाती है । तो यह जो ज्ञान है - सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म, इसे सामान्य ज्ञान भी कहते हैं और अवान्तर ज्ञान भी कहते हैं । यह अवान्तर वाक्य है । अवान्तर वाक्यों से केवल असत्त्वापादक आवरण की निवृत्ति होती है । यानी ब्रह्म नहीं है, इसप्रकार कान जो आवरण है, हमारे मन में, उस आवरण की निवृत्ति हम अपौरुषेय वेद वाणी से सुनते हैं कि ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है । वह अन्त:करण में ही अवस्थित है । तो हमारे मन में उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में जो संदेह है, उसकी निवृत्ति उस ज्ञान से हो जाती है । चार महावाक्य हमारे वेदों में बतलाये गये है । जिनमें अथर्ववेद का महावाक्य है - **अयमात्मा ब्रह्म,** यजुर्वेद का महावाक्य है - **अहं ब्रह्मास्मि,** ऋग्वेद का महावाक्य है - **प्रज्ञानं ब्रह्म** और सामवेद का महावाक्य है - **तत्त्वमसि** । ये चार महावाक्य बतलाये गये हैं । चार महावाक्यों को लेकर अर्थ किया जाये, तो चारों का अर्थ एक ही होता है । तत् त्वं असि तत्त्वमसि ये तीन पद हैं । जिसप्रकार दस लोगों के मध्य स्वयं को न गिनने के कारण प्रश्न था कि दसवाँ कौन - किसी ज्ञानी महापुरुष ने बतलाया, तो उन्हें दशम का ज्ञान हो गया । इसीप्रकार हमने श्रुतियों में सुना कि ब्रह्मज्ञान सत्य और अनन्त है । तो हमारे मन में जिज्ञासा हुई कि उस ब्रह्म का हम साक्षात्कार कैसे करें? हम गुरु के पास गये । किस गुरु के पास गये ? जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु हैं, सामान्य गुरु से यहाँ काम नहीं चलेगा । वह केवल कान में मन्त्र देते हैं, उन गुरुओं से बोध नहीं होगा । यहाँ तो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु चाहिए ।

दृष्टान्त दिया जाता है कि एक व्यक्ति चला जा रहा था कही किसी लक्ष्य में गन्तव्य था उसका । रास्ते में एक नदी पड़ी, तो उस नदी में पानी बहुत था । उसने सोचा कोई मार्गदर्शक मिल जाय, तो नदी पार करें । वहाँ एक लंगड़ा बैठा था, उसने कहा - हम तुम्हें यहाँ से बतलाये देते हैं, तुम चले जाओ । उसने सोचा कि इसके पैर नहीं है, तो इसको पता ही नहीं

होगा कि इसमें कितना पानी है । बिना पैर का व्यक्ति क्या जाने? नदी में कितना पानी है । इसलिए इसके कहने से जाना ठीक नहीं । उसी समय एक अन्धा आ गया और बोला कि चलो मैं ले चलता हूँ । उसने सोचा कि यह अन्धा है, इसे दिखलाई नहीं पड़ता है, यह स्वयं डूबेगा और हमें भी डुबा देगा । वह उसके साथ भी नहीं गया । हाथ पैर दोनों से साबुत मनुष्य आया, उसके साथ उसने सकुशल नदी पार की । इसी तरह दो प्रकार के गुरु होते हैं । श्रोत्रिय गुरु होते हैं, जिनको शास्त्र का भरा पूरा ज्ञान होता है, शास्त्रार्थ में निपुण हैं लेकिन आत्मा का अनुभव नहीं है । आत्मा के अनुभव के बिना शास्त्र ज्ञान निरर्थक हो जाता है । ऐसे लोग - जो ब्रह्मवार्ता में तो बड़े कुशल हैं, लेकिन जिनके अन्तःकरण में वृत्ति नहीं है, वह अज्ञानी हैं । वह बारम्बार संसार में आयेंगे - जायेंगे । उनका संसार से मोक्ष नहीं हो सकता । केवल श्रोत्रिय से काम नहीं चलेगा । बहुत से ऐसे पण्डित होते हैं, जो बड़े-बड़े वेदान्त के ग्रन्थों को पढ़ाते हैं । वेदान्त के बड़े ग्रन्थ माने जाते हैं - अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी, खण्ड-खण्डन-खाद्यम् । ये ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका अध्ययन करते समय एक-एक वाक्य का अध्ययन करने में कभी-कभी कई दिन लग जाते हैं ।

एक बार कुछ पण्डित स्वामी करपात्री जी के पास आये, बड़े पण्डित थे । उन्होंने कहा महाराज हम वेदान्त के ग्रन्थों को पढ़ाते हैं और हम यह सिद्ध कर देते हैं, जगत् मिथ्या है । लेकिन हमें पता नहीं लगता कि जगत् मिथ्या कैसे है? कहते तो हैं, लेकिन सचमुच जगत् मिथ्या है, यह बात समझ में नहीं आती, उन्होंने कहा इसतरह समझ में नहीं आयेगा । इसके लिए आपको ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना पड़ेगा । अब श्रोत्रिय तो है, ब्रह्मनिष्ठ नहीं है, तो समझ लीजिए आँख तो है पैर नहीं । अपने मरने के लिए सूई भी काफी होती है लेकिन दुश्मन को मारने के लिए अणुबम बनाना पड़ता है । बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र का उपयोग करना पड़ता है तो ऐसे गुरु के पास जाये जो ब्रह्मनिष्ठ तो है लेकिन श्रोत्रिय नहीं है । तो जब हमारे मन में कोई शंका उत्पन्न

हो जावे तो वह समाधान नहीं कर पायेगा । शंका हमारी बनी रहेगी इसलिए ऐसा गुरु चाहिए जो श्रोत्रिय होने के साथ-साथ ब्रह्मनिष्ठ भी हो । ब्रह्मनिष्ठ यानि पैर से युक्त और श्रोत्रिय यानि आँख से युक्त । ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जब वह जायेगा तो उसको अपने आप ज्ञान हो जायेगा । वह महावाक्य का उपदेश देगा । बहुत सरल सा है ।

एक शिष्य गुरु के पास गया और जाकर गुरु से पूछा । महाराज! यह बतलाइये कि वह देव कौन है, जिसके ज्ञान से समस्त पाशों से मोक्ष हो जाता है । देवता को जानने पर समस्त पाशों से प्राणी का छुटकारा हो जाता है । तो गुरु बोले कि साक्षी देवता कौन है, जो मन को जानने वाला है । तो उसने विचार करके कहा, मन का साक्षी तो मैं ही हूँ । क्योंकि मेरे ही द्वारा मन जाना जाता है । तो गुरु बोले तूं ही देव है, क्योंकि देव अनेक तो हैं नहीं । श्रुति कहती है - एक ही देव है, इसलिए तू ही देव है । तो आत्मराग से उस देवता का ज्ञान हो जाना, यह महावाक्यजन्य ज्ञान है । इसके लिए आवश्यक यह होता है कि पहले तप और तम को समझे । क्योंकि तप और तम की सीधे एकता सम्भव नहीं होती है । ब्रह्म में और जीव में बहुत बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है, ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी सर्वकारण है जबकि जीव अल्पज्ञ है । वह परिछिन्न और जन्म मरण वाला है, कर्म के बन्धन में फँसा है । जबकि ब्रह्म इसके विपरीत है, तो दोनों की एकता कैसे हो सकती है । दोनों की बराबरी तो हो ही नहीं सकती । एकता हो सकती है, लेकिन उसकी युक्ति कैसे हो? दोनों में परस्पर विरोध है । तो असम्भव अर्थ में प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती । यह नियम होता है कि प्रमाण या ज्ञान, वस्तु के स्वरूप का प्रकाश करता है, वस्तु के स्वरूप को बदलता नहीं है । उसके स्वरूप को परिवर्तित करना ज्ञान का काम नहीं है । वस्तु जैसी है, वैसा उसको अनुभव करा देना यह ज्ञान का काम है । इसलिए कहते हैं कि सौ शब्द भी घट को पट नहीं बना सकते । वह घट को घट के रूप में बतला सकते हैं । लेकिन घड़े को

कपड़ा बना देने का कार्य शब्द नहीं कर सकता । इसीप्रकार श्रुति भी असम्भव शब्द को नहीं बतला सकती, इसलिए श्रुति के वचनों में हमारा आदर है और उसका जो अर्थ है, वह गलत हो नहीं सकता । इसलिए जो महावाक्य है, इसका सही अर्थ लगाने के लिए हमें वाच्यार्थ को छोड़ लक्ष्यार्थ की ओर जाना पड़ेगा, तब पद का सही अर्थ बोध होगा, वह अर्थ है - ईश्वर । उस ईश्वर के स्वरूप में ब्रह्म, विद्या उपाधि और विद्या उपाधि से युक्त ईश्वर ये तीनों आ जाते हैं तथा त्वं पद का वाच्यार्थ है उसमें कूटस्थ जीव, अन्त:करण तथा अविद्या; ये तीनों आ जाते हैं । इन तीनों में से दो को छोड़ना पड़ेगा । इन दोनों की एकता शोधित तत्त्वं पदार्थ से ही होती है । अशोधित की नहीं होती है ।

शोधित तत्त्व की होती है, अशोधित की नहीं होती है । इसतरह जिसको महावाक्य के द्वारा ज्ञान हो गया, उसमें गुरु के द्वारा शोधित तत्वं के पदार्थ की एकता का श्रवण किया और पहले अपने त्वं का शोधन किया। मैं शरीर नहीं, प्राण नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं इसको दूसरे ढंग से समझ लीजिए । पाँच कोष हैं - अण्डमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष । तो जो यह स्थूल शरीर है, वह अण्डमयकोष कहलाता है । पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण; ये प्राणमय कोष कहलाते हैं । मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मनोमयकोष कहलाती हैं । बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विज्ञानमय कोष कहलाते हैं । अविद्या को आनन्दमय कोष कहते हैं ।

मैं कौन हूँ? अण्डमय कोष नहीं हूँ, प्राणमय कोष नहीं हूँ, मनोमय कोष नहीं हूँ, विज्ञानमय कोष नहीं हूँ और आनन्दमयकोष नहीं हूँ । इन सबको जानने वाला पृथक् मैं हूँ । इसप्रकार जब आत्मा का शोधन हो जाता है तो उस शोधित आत्मा के साथ ब्रह्म की एकता होती है । लोग कहते हैं - अहं ब्रह्मास्मि । यह अभिमान की बात है । शिवोऽहम् यह अभिमान

की बात है । लेकिन यह अभिमान की बात नहीं है । अभिमान जहाँ रहता है वहाँ से ऊपर जाने पर ही शिवोऽहम् का अनुभव होता है । जब तक अहं है, तब तक ब्रह्म के साथ एकता बन ही नहीं सकती । इसलिए बतलाया कि जो अहंकार को लेकर ब्रह्म के साथ एकता करते हैं । कभी-कभी गलत रास्ते पर भी चले जाते हैं । अगर वेदान्त शास्त्र का कोई पूर्णरूप से श्रवण करे प्रेम से, तो ८० कृच्छ्र का पुण्य मिलता है । १२ दिन तक व्रत किया तो एक कृच्छ्र हुआ और कृच्छ्र का तरीका यह होता है कि एक दिन में एक बार भोजन किया, दूसरे दिन व्रत किया, तीसरे दिन अयाचित किया, चौथे दिन फिर व्रत शुरु किया, ऐसे चार बार जब यह कृच्छ्र किया जाता है तो एक कृच्छ्र व्रत हुआ, और ऐसे ८० कृच्छ्र का एक ही दिन पुण्य होता है । यदि वेदान्तशास्त्र का श्रद्धा से श्रवण करता है तो इसप्रकार जो श्रद्धावान् और दोषदर्शी नहीं हैं, वे केवल वेदान्त शास्त्र को सुनें भी तो वह पापकर्मो से मुक्त होकर शुभकर्मों में जाते हैं ।

श्रीराम जय राम जय जय राम ।
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ।

ॐ

पञ्चम दिवस

उपस्थित विद्वत् बंधुओं, देवियों और सज्जनों,

कल आपके समक्ष महावाक्यों की चर्चा हुई थी । चार वेद और उनके चार महावाक्य । यह हमने बतलाया था कि उत्तर दिशा का वेद अथर्ववेद है, वहाँ का महावाक्य है - 'अयमात्मा ब्रह्म' । दक्षिण दिशा का वेद है - यजुर्वेद, उसका महावाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि'। पूर्व का वेद है - ऋग्वेद यहाँ का महावाक्य है - 'प्रज्ञानम् ब्रह्म'। पश्चिम दिशा का वेद है - सामवेद, यहाँ का महावाक्य है - ''तत्त्वमसि'' । तो इन महावाक्यों का तात्पर्य है, जीव और ब्रह्म का अभेद । जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं, यह महावाक्यों द्वारा बोधित होता है । कहीं ईश्वर को पहले रखकर जीव के साथ उसकी एकता बतलाई गई है और कहीं जीव को रखकर ईश्वर के साथ एकता बतलाई गयी है । अब जैसे ''तत्त्वमसि'' में तत् पदार्थ ईश्वर है । ईश्वर पहले है - त्वं पदार्थ जीव बाद में है । किन्तु अहं ब्रह्मास्मि में अहं पद वाच्यार्थ जीव है । जीव को पहले रखा गया और ब्रह्म को पीछे रखा गया है । अयमात्मा में भी आत्मा को पहले और ब्रह्म को पीछे रखा गया । ''प्रज्ञानं ब्रह्म'' में भी यही स्थिति हैं । प्रज्ञानं का अर्थ जीव, वह ब्रह्म है । यहाँ जीव पहले है । इसको व्यतिहार निर्देश भी कह सकते हैं । ब्रह्म जीव है, जीव ब्रह्म, यह इसका अभिप्राय है । तो बात क्या है ? इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? इस महावाक्य को क्यों हम समझें ? क्यों इसके अर्थ पर विचार करें ? तो यह समझ लेना चाहिए कि जीव की समस्या का हल ब्रह्म के बोध से जुड़ा हुआ है । गोस्वामी तुलसीदासजी विनयपत्रिका में कहते हैं -

जबते जीव हरि से बिलगानो, तब से देह गेह निज मानो ।
सो माया वश तेहि बिसरायो, तेहि भ्रम से नाना दुःख पायो ।।

जब से यह जीव भगवान् से विमुख हुआ । देह, गेह को अपना कहने लगा, माया के वश में होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया । तो इसका जो भ्रम था, अपने स्वरूप की विस्मृति थी । इसी से नाना प्रकार के दुःख पाया और अभी पा रहा है । यह नियम है, कि जो स्थिति जिसके अभाव में आती है । उसका अन्त उसी के भाव से होता है । उदाहरण के लिए हम लकड़ी के कोयले को ले लें । कोयला काला है । उस कोयला की कालिमा का कारण अग्नि का वियोग है । वह लकड़ी था, अग्नि के साथ संयुक्त होने के बाद सहसा उसके ऊपर मिट्टी डाल दी गई या पानी डाल दिया गया । अग्नि से उसका वियोग हो गया । अग्नि के वियोग से वह काला हो गया । अब उस कोयले की कालिमा को दूर करने के लिए आप नौमन साबुन लगायें । कहावत है कि नौमन साबुन से भी कभी कोयला उजला नहीं होगा, वह काला का काला ही रहेगा । उसकी कालिमा तभी मिटेगी, जब जिस अग्नि के वियोग में वह काला हुआ है, उस अग्नि से उसका संयोग करा दिया जाय । आप देखते हैं कि सिगड़ी में जैसे ही अग्नि से लकड़ी का संयोग करा दिया जाता है, वह लाल अंगारे के रूप में हो जाता है । उसकी कालिमा का पता ही नहीं चलता । इसीप्रकार इस जीव का दुःख दैन्य सबका निदान, सबका कारण परमेश्वर से पृथक्ता है । परमेश्वर से विलग हो जाना । उसका दुःख, दैन्य का अन्त तभी होगा, जब वह परमेश्वर से मिल जायेगा । परमेश्वर से मिलाने वाले हैं - हमारे महावाक्य । ये हमें परमेश्वर का बोध कराते हैं । यह बात समझ लेनी चाहिए कि परमात्मा की प्राप्ति अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है । एक तो वस्तु किसी देश में हो, भिन्न काल में हमसे भिन्न हो, तो हम उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं और जब हमें प्राप्त हो जाती है, तो कहते हैं, पहले

ये हमें अप्राप्त थी, अब प्राप्त हुई है । किन्तु परमात्मा के सम्बन्ध में यह बात नहीं है । परमात्मा तो जीव को प्राप्त ही है । उस नित्य प्राप्त परमात्मा में अप्राप्ति का भ्रम हो गया है । जैसे किसी के गले में माला पड़ी है और वह किसी कारण से यह बात भूल जाये और माला खोजने लग जाये, मेरी माला कहाँ है ? बहुत व्याकुल हो जाये । कोई बतला दे, माला तो आपके गले में है, तो वह अपने गले में माला देखकर कहेगा, हाँ मिल गई । वह अप्राप्त कहाँ थी? अनमिली कहाँ थी ? पहले से ही मिली हुई माला मिली, उसके न मिलने का जो भ्रम था, वह दूर हो गया । इसीप्रकार परमात्मा सबसे मिला हुआ है । केवल उस परमात्मा को न जानने के कारण हमारी परेशानी है । सबके हृदय में परमात्मा हैं, वह परमात्मा सबको प्राप्त हैं । गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं -

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी, सत चेतन घन आनन्दरासी ।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी, फिरहि जीव जग दीन दुखारी ।।

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी सत् चेतन घन आनन्दरासी - प्रभु हृदय में विद्यमान हैं, फिर भी हम ढूँढते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि परमात्मा हृदय में विद्यमान होते हुए भी न जानने के कारण अविद्यमान-सा हो गया है । कबीर ने कहा है कि -

कबीरा दुखिया कोई नहीं । सबकी गठरी लाल ।
गाँठ खोल जाने नहीं । ताते भयो कंगाल ।।

कहते ह, कोई भी दुःखी नहीं हैं, सबकी गठरी में लाल बंधे है । गाँठ खोलना नहीं आता । इसलिए कंगाल बने हैं और भी पद में उन्होंने कहा है -

पानी में मीन पियासी । मोहे रह रह आवै हाँसी ।।

पानी के भीतर रहते हुए भी मछली प्यासी रह गयी है । बात यह है जब तक वह सीधी रहती है, तब तक उसके पेट में पानी जाता ही नहीं कितना ही पानी हो मछली के पेट में, तब तक नहीं जायेगा, जब तक वह

उल्टे नहीं । आप किसी सरोवर के किनारे चुपचाप बैठ जायँ, तो मछलियाँ छलांग सी मारती हैं, उलटती हैं । जिस समय वह उलटती है, उसी समय उनके मुँह में पानी जाता है । जब तक वह सीधी रहती है, तब तक मुँह में पानी जाता ही नहीं । इसीप्रकार हमारे भीतर परमात्मा हैं, लेकिन जब तक हम अन्तर्मुख नहीं होंगें, तब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी । हम बाहर देख रहे हैं, परमात्मा भीतर हैं । यह स्थिति है परमात्मा से न मिलने की । उस परमात्मा को प्राप्त करना है । जो वस्तु प्राप्त होती है और जिसमें अप्राप्ति का भ्रम होता है, उसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है । अन्यथा आप सोचें, कल भी हमने बतलाया था कि जो प्रमाण होते हैं, वे अज्ञात के व्यापक होते हैं । अकृत के कर्ता नहीं होते । जो वस्तु जैसी है, उसको बतला देना प्रमाणों का कार्य होता है । लेकिन उस वस्तु को वे अन्य रूप में बना दें, यह प्रमाणों का कार्य नहीं है । परमात्मा यदि प्राप्त है, तभी ज्ञान से उसकी प्राप्ति होगी । बन्धन वास्तव में यदि नहीं है, तभी ज्ञान से बन्धन की निवृत्ति होगी । यदि बन्धन वास्तव में है, तो ज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं होगी । उसके लिए कर्म का आश्रय लेना पड़ेगा । इसतरह जो महावाक्यों का अर्थ है, वह जीव के पुरुषार्थ के साथ जुड़ा हुआ है । हमें यह देखना है कि इन महावाक्यों का अर्थ कैसे समझें ? सबसे पहले उसकी भूमिका आपके सामने प्रस्तुत करते हैं, उससे सहज में ही महावाक्यों का अर्थ समझ में आ सकेगा । यह आपके स्मरण में रहे कि श्रुति का अर्थ होता है - वेद, जिसको हम गुरु परम्परा से श्रवण करते आये हैं । अविच्छिन्न परम्परा क्रम से जो शब्द राशि हम तक पहुँची है, उसको श्रुति कहते हैं । वेद के तीन काण्ड हैं - कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । वेदों का जो ज्ञानकाण्ड है, उन्हें हम उपनिषद् कहते हैं । उप, नि, उपसर्गपूर्वक षद्ऌ धातु से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है । यहाँ प्रयुक्त षद्ऌ धातु के तीन अर्थ होते हैं - विसरण, गति और अवसान । विसरण कहते हैं - किसी

चीज को विसरण कर देना, छिन्नभिन्न कर देना । गति के चार अर्थ होते हैं - गमन, ज्ञान, मोक्ष और प्राप्ति । ज्ञान भी गति का अर्थ होता है और गमन भी गति का अर्थ होता है, मोक्ष भी गति का अर्थ होता है और प्राप्ति भी गति का अर्थ होता है । विसरण गति अवसादन माने किसी वस्तु का उच्छेद हो जाना । इसका नाम अवसादन है । तो षद्ल्ऱ धातु जो है, इसमें ल्ऱ का लोप हो जाता है और सद् रह जाता है । सद् के पहले उप और नि दो उपसर्ग लग जाते हैं । उप माने समीप, नि माने निश्चय । जो परमात्मा के निकट ले जाकर निश्चयपूर्वक हमारे संसार को, अविद्या ग्रंथि को विदीर्ण कर दे, परमात्मा का बोध करा दे और जन्म मरण के बन्धन का उच्छेद कर दे, उस विद्या का नाम उपनिषद् है । जिन वेद वचनों में, जिन श्रुतियों में ब्रह्मविद्या का वर्णन है, वे भी उपनिषद् कहलाते हैं । क्योंकि वे उसके प्रतिपादक हैं। ये उपनिषदों में ही मिलते हैं, महावाक्य तो इनमें प्रक्रिया आती है । **सदैव सौम्यमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्** । सृष्टि के पहले यह नामरूपात्मक जगत् केवल सत् ही था और वह सत्य कैसा था एक, एव और अद्वितीय। इससे यह बतलाया गया कि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य एक सत्यरूप ब्रह्म ही सृष्टि के प्रारम्भ में था । भेद तीन प्रकार के होते हैं । सजातीय भेद - वृक्ष-वृक्ष के भेद को सजातीय भेद कहते हैं । वृक्ष का और पत्थर का भेद विजातीय भेद कहलाता है । वृक्ष की अपनी ही शाखाओं से जो परस्पर भेद है, उसको स्वगत भेद कहते हैं। तो ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई है नहीं। इसलिए उसमें सजातीय भेद नहीं है । ब्रह्म से भिन्न किसी और की सत्ता है नहीं, इसलिए उसमें विजातीय भेद भी नहीं है और निरवयव होने के कारण उसमें स्वगत भेद भी नहीं है । इसप्रकार सजातीय स्वगत भेद शून्य एक सत् ही सृष्टि के प्रारम्भ में था । विद्वानों ने बतलाया है कि सत् शब्द का अर्थ है सविशेष ब्रह्म । उसके आश्रित एक शक्ति है । जिसको माया कहते हैं, अविद्या कहते

हैं, शक्ति कहते हैं । एक कोई शक्ति परमेश्वर के आश्रित उस समय भी रहती है । किन्तु न वह परमेश्वर से पृथक् है, न अपृथक् है और न पृथक्-अपृथक् दोनों है, न भिन्न है न अभिन्न है न भिन्नाभिन्न है, प्रत्युत् जिसका सत् असत्, भिन्न अभिन्न और भिन्नाभिन्न रूप से निर्वचन नहीं किया जा सके, उसे कहते हैं, अनिर्वचनीय । तो ब्रह्म के आश्रित उस समय माया शक्ति थी, जिसमें तीन गुण हैं - सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण । प्रकृति के तीन गुण होते हैं - इसमें जो विशुद्ध सत्त्व है, जिस सत्त्वगुण में रजोगुण, तमोगुण नहीं मिला था, उसका नाम विद्या है । उसी को माया कहते हैं और यह माया जिसकी उपाधि है, उसको ईश्वर कहते हैं । यानि जो सत् परमात्मा था, सविशेष ब्रह्म था, उसमें जो शक्ति थी, शुद्ध सात्त्विक अंश की उपाधि से, वह ब्रह्म ईश्वर कहलाया । अब विशुद्ध सत्त्व एक तरफ हो गया । शेष रह गया मलिन सत्त्व जिसमें रजोगुण, तमोगुण मिला हुआ है । ऐसे सत्त्वगुण का नाम है - अविद्या । वह अविद्या जिसकी उपाधि है उसका नाम हो गया जीव । एक ही ब्रह्म के दो नाम हो गये । विद्या उपाधि से उसी को ईश्वर कहने लगे और अविद्या उपाधि को जीव कहने लगे । ध्यातव्य है कि उसमें से शुद्ध सत्त्व निकल गया, मलिन सत्त्व निकल गया, शेष रह गया तम और रज । तम प्रधान जो माया थी, उसके रज और सत् गुणों से आकाश उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि हुआ, अग्नि से जल हुआ, जल से पृथ्वी हुई । इसप्रकार पञ्चभूतों की उत्पत्ति हुई । फिर इन पञ्चभूतों के समष्टि सात्त्विक अंश से अन्त:करण बना । व्यष्टिज्ञान से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनीं और इन्हीं पञ्चमहाभूतों के समष्टि राजसिक अंश से प्राण बने और व्यष्टि राजस् अंश से पञ्चकर्मेन्द्रियाँ बनीं । अब तामसिक भाग रह गया, इनका पञ्चीकरण हुआ । पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, अग्नि इन पाँचों तत्त्वों के दो-दो भाग हो गये । आधे-आधे हो गये, तो एक भाग उनका उनके पास रहा और दूसरे भाग के ४ हिस्से हुए । वे

चार हिस्से दूसरे भूतों में बंट गये । आकाश के दो भाग हो गये - एक भाग आकाश के पास रह गया, दूसरे भाग के चार हिस्से हुए । एक हिस्सा वायु को मिला, एक हिस्सा पृथ्वी को मिला, एक हिस्सा जल को मिला और एक हिस्सा अग्नि को मिला । इसीतरह वायु के दो भाग हुए। आधा वायु के पास रह गया, आधे के चार भाग हुए । एक आकाश को मिला, एक अग्नि को मिला, एक पृथ्वी को मिला और एक जल को मिला। इसीप्रकार अग्नि के दो भाग हुए । आधा अग्नि के पास रहा और आधे के चार भाग हुए - एक आकाश को, एक वायु को, एक जल को और एक पृथ्वी को मिला । इसीप्रकार जल के दो भाग हुए, आधा जल के पास रहा, आधे के चार भाग हुए । एक आकाश को, एक वायु को, एक अग्नि को और एक पृथ्वी को मिला । इसीप्रकार पृथ्वी के दो भाग हुए, आधा पृथ्वी के पास रहा और आधे के चार भाग हुए - एक आकाश को, एक वायु को, एक अग्नि को, एक जल को मिला । इसप्रकार वितरित हो गये, तो प्रत्येक तत्त्व का आधा भाग रहा और दूसरे चार का आधा भाग मिल गया । इसप्रकार प्रधानता अपनी रही और दूसरों के साथ मिल गया। इसका नाम है पञ्चीकृत। इन पञ्चमहाभूतों से ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बना है । इसप्रकार यह सारा का सारा प्रपञ्च है, जिसमें स्थूल जगत् आ जाता है । स्थूल जगत् के भीतर हमारा यह शरीर भी आ जाता है । ये सबका सब पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से निर्मित है और कर्मेन्द्रियाँ हैं, प्राण हैं, ये अपंचीकृत पंचमहाभूतों के राजसिक अंश से निर्मित है तथा जो हमारा मन है और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, ये सबकी सब पञ्चमहाभूतों के सात्विक अंश से निर्मित हैं । सारा का सारा प्रपंच माया के द्वारा ही निर्मित है । माया के गुणों से निर्मित है । इसलिए भगवान् श्रीराम लक्ष्मण जी को समझाते हुए कहते हैं -

गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ॥

हे लक्ष्मण ! गो माने इन्द्रियाँ, गोचर माने इन्द्रियों के विषय जहाँ तक

मन जाता है, वहाँ तक सब माया है । उस माया के दो भेद हैं -

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा । जा बस जीव परे भवकूपा ।।
एक रचइ जग गुन बस जाकें । प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें।।

उनमें से जो अविद्या है वह दुष्ट है, दुःखरूपा है । उसी के कारण जीव संसाररूपी कुंआ में पड़ा है और दूसरी जो विद्या है, इसको माया भी कहते हैं । इसके द्वारा भगवान् सारे संसार का सर्जन करते हैं । यह भगवान् की प्रेरणा से चली है । भगवान् उसके वश में नहीं होते, वह भगवान् के वश में रहती है । इसप्रकार यह विद्या-अविद्या रूपी संसार माया से रचित है । आपने श्रीमद्भगवद्गीता में पढ़ा होगा कि जो तत्त्ववेत्ता है - **गुणा गुणेषु वर्तन्ते, इति मत्वा न सज्जते ।** गुण गुणों में हैं, ऐसा समझकर वह आसक्त नहीं होता । गुण-गुणों में कैसे रहते हैं, यह आप समझ लीजिये - पञ्चमहाभूतों से ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध बने हैं । पञ्चमहाभूतों से ही शब्द को ग्रहण करने वाले कान, स्पर्श करने वाली त्वचा, रूप को ग्रहण करने वाली आँख, रस को ग्रहण करने वाली जीभ, गन्ध को ग्रहण करने वाली नाक बनी । इसप्रकार इन्हीं पञ्चभूतों से इन्द्रियाँ बनीं, उन्हीं से विषय बने और मन भी उन्हीं पञ्चभूतों से बना । विषय, इन्द्रियाँ, मन ये सब के सब गुणों से निर्मित हैं। प्रकृति में तीन गुण हैं, इन्हीं से ये बने हुए हैं । गुणों से निर्मित हैं । गुण ही विषय हैं, गुण ही विषयी हैं । वस्तुतः आत्मा इनसे पृथक्, इनसे असंग है । ऐसा समझकर विद्वान् इनमें आसक्त नहीं होते। तत्त्वमसि महावाक्य पर विचार कर रहे थे - तत्त्वं-असि, उसका हिन्दी समझ लीजिये । 'तत्' माने 'वह (ईश्वर)' 'त्वं' माने 'तू (जीव)' और 'असि' 'दोनों की एकता' बतला रहा है । दोनों में बहुत अन्तर है। ईश्वर सर्वत्र सर्वशक्तिमान् है, जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् है । दोनों की एकता कैसे हो सकती है ? असम्भव मालूम पड़ता है । अगर यह जीव और ब्रह्म

की भिन्नता, इनका जो अनेकत्व है, वह स्वभावतः होता तो महावाक्य से उन दोनों को एक नहीं किया जा सकता था । भेद वास्तविक में होता, तो अभेद श्रुति से भी नहीं हो सकता था । भेद वास्तविक नहीं है, वह वास्तविक जैसा प्रतीत हो रहा है । इसीलिए श्रुति से उस भेद का निराकरण हो जाता है । यह क्यों हो रहा है ? वस्तुतः यह उपाधि से हो रहा है । ब्रह्म में स्वाभाविक रूप से भेद नहीं है, यह औपाधिक भेद है। उदाहरण के लिए आप समझ लें - स्वच्छ स्फटिक रखा है, स्फटिक को मणि भी कहते हैं, यहाँ स्फटिक बिल्कुल स्वच्छ होता है । उस स्फटिक के पास जवाकुसुम लाल फूल रख दीजिए, तो जवाकुसुम में जो लौहित्य है, लालिमा है, वह स्फटिक में भाषित होती है । स्फटिक हमको रक्त प्रतीत हो रहा है, तो क्या यह लाल है? लाल नहीं है, यह तो स्वच्छ है परन्तु लाल फूल की उपाधि के कारण यह स्वच्छ होते हुए भी लाल दिखलाई पड़ रहा है । इसीप्रकार जीव में अलपज्ञता नहीं है, अल्पशक्तिमत्ता नहीं है, परन्तु अविद्या उपाधि के कारण जीव में आरोपित हो रहे हैं । लाल फूल वहाँ से हटाते ही स्फटिक स्वच्छ का स्वच्छ रह जायेगा । पहले वह लाल था, जो अब स्वच्छ हुआ है, पहले वह स्वच्छ था, किन्तु भ्रमवश उपाधि के कारण उसमें लौहित्य की प्रतीति हो रही थी, उपाधि हटा दी, तो लौहित्य समाप्त हो गया । वह ज्यों का त्यों रह गया । इसीप्रकार यह माना जाता है कि जीव और ईश्वर ये दोनों सोपाधिक रूप हैं । जैसे समझ लीजिए एक घड़ा है, घड़े में पानी भरा है, तो जलपूरित घट में तीन चीजें है, एक तो घटाकाश है, दूसरा जल है, तीसरा उस घट के जल में पड़ने वाला श्रवण नक्षत्र आकाश का प्रतिबिम्ब है, ये तीन चीजें घड़े में हैं और इसीप्रकार दूसरा उदाहरण लीजिए कि मेघ है, मेघ में भी जल रहता है, तो मेघ के भीतर आकाश है और मेघ में पड़ने वाला आकाश का प्रतिबिम्ब है । तो घट के भीतर रहने वाला आकाश घटाकाश कहलाता है और मेघ के भीतर

रहने वाला आकाश मेघाकाश कहलाता है । अब यहाँ देखें - तीन चीजें मिलकर जीव बनाती हैं । जैसे घट में घटाकाश, जल और जल में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब होता है, उसीप्रकार जीव में भी अविद्या अविच्छिन्न कोटस्थ अविद्या और उस अविद्या में पड़ने वाला आत्मा का, ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जिसको चिदाभास कहते हैं । ये तीन यहाँ पर हैं । इसीतरह यहाँ पर मेघ में भी मेघाच्छन्न आकाश है, मेघ है और उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब है । उसीतरह ब्रह्म है, मेघाच्छन्न के स्थान पर और मेघ के स्थान पर माया या अविद्या है तथा उस पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब चिदाभास है । तो उधर तीन मिलकर ईश्वर हुआ, ऊपर तीन मिलकर जीव हुआ और इन दोनों की एकता तब सम्भव है, जब यहाँ से जल और उसमें पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को अलग कर दिया जावे । वहाँ से मेघ और मेघ में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को अलग कर दिया जाय । मेघाच्छन्न आकाश वहाँ का लिया जाय और यहाँ घटाकाश के स्थान पर कूटस्थ है, कूट के सामने निर्विकार आत्मा उसको साक्षी लिया जाय तो दोनों की एकता बन जाएगी। अब यह कैसे बने? सीधे-सीधे तो बनती नहीं है । तब दोनों की एकता बने कैसे? हमारे यहाँ माना जाता है कि जब वाच्यार्थ सम्भव नहीं होता, तो उसमें लक्षणा की जाती है । उस लक्षणा के तीन भेद हैं - जहत् लक्षणा, अजहत् लक्षणा और भागात्याग लक्षणा । तीनों के उदाहरण आपके सामने रख देते हैं । एक महात्मा जा रहे थे । महात्मा ने किसी पथिक से पूछा कि हम रात्रि में कहीं निवास करना चाहते है । यदि कोई पवित्र शीतल स्थान हो, तो बतलाओ । पथिक ने कहा जो सामने तुम्हें आभीरपल्ली दिखलाई पड़ रही है, इसमें आप निवास कीजिए । महात्मा ने कहा - हमको तो पवित्र स्थान चाहिए, गंगा चाहिए । तो उसने कहा महाराज! गंगायां घोषः । आभीरपल्ली वह गंगा में है । उसने विचार किया कि यह कोई ठग तो नहीं है । यह कहता है - **गंगायां घोषः** । तो गंगा शब्द का अर्थ क्या है । गंगा पदवाच्य

तो भागीरथ के रथ के पीछे समागत अविच्छिन्न जलप्रवाह, भागीरथ के रथ के चिह्न के साथ-साथ चलने वाला जल का प्रवाह गंगा कहलाता है । उस गंगा में तो कोई आभीरपल्ली हो नहीं सकती, उसमें गाँव तो बस नहीं सकता । गंगा की धारा में गाँव कैसे बसे? तो वाच्यार्थ में यह सम्भव नहीं है । इसलिए गंगा पद की गंगा तीर में लक्षणा की जायेगी । **भागीरथी तीरे घोषः, गंगायां घोषः** का अर्थ है - गंगा तीर, एक लक्षण यह है । यहाँ जीव-ब्रह्म की एकता हम करने चले, तो हम जीव ब्रह्म को छोड़ दें और कोई तीसरी चीज की एकता करें, तो यह गलत हो जायेगा, जहत् लक्षणा नहीं बनेगी । इसकी लक्षणा होती है अजहत् लक्षणा । वाच्यार्थ को भी लिया और वाच्यार्थ के सम्बन्धी को भी लिया । जैसे किसी माँ ने अपनी बेटी से कहा काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् यह दही हैं, इसको कौओं से बचाना । तो बेटी यह समझती है कि कौवे से बचाने का मतलब यह नहीं है कि बिल्ली से न बचाना, कुत्ते से न बचाना । जिन-जिन से दही की हानि हो सकती है, उन सबसे दही की रक्षा अभीष्ट है ।

किसी व्यक्ति को हमने कभी दिल्ली में देखा । आज वह हमें कलकत्ते में दिखाई पड़ रहा है । हम कहते हैं 'सोऽयम्' यह वही व्यक्ति है, जिसे हमने दिल्ली में देखा था । तो वहाँ देखा जाय, तो देश दूसरा है, काल भी दूसरा है । देशकाल में तीन भेद हैं - लेकिन व्यक्ति में अभेद है । विरुद्ध देश है, विरूद्ध काल है । उनका त्याग करके व्यक्ति देवदत्त को लेकर दोनों की एकता बन जाती है । इसीप्रकार वहाँ की विद्या उपाधि छोड़ दो, यहाँ पर अविद्या की उपाधि छोड़ दो, तो चित्त-चित्त दोनों का एक-सा है, उसको ले लो तो दोनों की एकता बन जाती है । यह महावाक्य का अर्थ है ।

यहाँ पर जीव की माया उपाधि है । उसका त्याग करके अखण्ड सच्चिदानन्द में लक्षित होता है । उस ब्रह्म का जिसको अनुभव हो जाता है, उसके अनुभव से ही संसार का बन्धन सदा के लिए छूट जाता है ।

महावाक्य के द्वारा उस वस्तु को लक्षित किया जाता है । अब जैसे "तत्त्वमसि" महावाक्य से यह बात समझ ली। इसीप्रकार "अयमात्मा" ब्रह्म को ले लीजिए, अयं यह जो अपरोक्ष आत्मा है, वह ब्रह्म है । इसीप्रकार "प्रज्ञानं ब्रह्म" में प्रज्ञान सबको जानने वाला ज्ञान, कान से हम शब्द को जानते हैं । आँख से रूप को जानते है, गंध को नाक से जानते हैं, स्वाद को जीभ से जानते हैं, त्वचा से स्पर्श को जानते हैं । विषय भले ही अलग-अलग हो, लेकिन ज्ञान एक ही है । जैसे कोयले बहुत से जल रहे हों आग में, तो लाल-लाल कोयले को सामने फर्श पर फैला कर देखो, अग्नि कई हैं, अनेक हैं, कोई लम्बा है, कोई टेढ़ा है, कोई छोटा है । ऐसे अग्नि के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं; परन्तु सच पूछा जाय तो ये जितने भी भेद हैं, ये सब कोयले के हैं । अग्नि एक है । इसीप्रकार जो ज्ञान में भेद प्रतीत होता है, वह विषय का है, विषय के भेद की उपाधि से ही यह प्रतीत हो रहा है, वास्तव में ज्ञान एक है । ज्ञान जो अभिन्न है, वह ब्रह्म है । ब्रह्मज्ञान का अर्थ निकल आया । इसीप्रकार "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ में अहं माने मैं नहीं, मन नहीं, इन्द्रिय नहीं, प्राण नहीं, बुद्धि नहीं प्रत्युत् जो सबका साक्षी है, वह ब्रह्म है । इसी बात को देखिए कि महावाक्य रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने कितनी सरलता से समझाया है -

विषय कर्ण सब धूरि समेता । सकल एक सम एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।।

गोस्वामीजी कहते है कि शब्द, रूप, रस, गन्ध ये विषय हो गये और कर्णादि - इन विषयों को जानने के साधन हैं । जैसे शब्द को जानने का स्रोत कर्ण, स्पर्श को जानने का स्रोत त्वचा, रूप को जानने का स्रोत आँख और रस को जानने का स्रोत जिह्वा, गन्ध को जानने का स्रोत नासिका है । तो विषय और कर्ण दो हो गये। लेकिन जो इन्द्रियाँ हैं, ये अपने विषय को तभी जान पाती हैं, जब इनके देहाभिमानी देवता का इनके

ऊपर अनुग्रह हो । आप देखिये, यहाँ हम लोग बैठे हैं, आप हमें देख रहे हैं, हम आपको देख रहे हैं । यदि यह बिजली न रहे, तो आँख रहते भी हम आपको नहीं देख पायेंगे, आप हमें नहीं देख पायेंगे । यह सूर्य का अंश है विद्युत् अग्नि । यह सूर्य नेत्र का देवता है । इसीप्रकार कानों का देवता दिशाएँ हैं, जिह्वा का देवता वरुण हैं, नाक के देवता अश्विनी कुमार हैं । क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय का एक अधिष्ठातृ देवता होता है । जो उन इन्द्रियों को चेतन बनाकर अपने विषय को ग्रहण कराने में सक्षम बनाता है । इसलिए उसका अनुग्रह चाहिए और सबसे बड़ी बात जानने वाला होना चाहिए । जब तक जानने वाला नहीं होगा, जानेगा किसको? तो विषय हैं - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध कर्ण, जिह्वा। वर्ण, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और सुर; ये इन्द्रियों के देवता हैं और मन को भी यदि इन्द्रिय मान लेते हैं तो मन के देवता चन्द्रमा हैं तथा जीव माने मैं । **सकल एक ते एक सचेता ।** विषयों का ज्ञान इन्द्रियों से होता है । इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शक्ति देवताओं से आती है । इन सबको जानने वाला जानता है । जब अहं नहीं होगा, तब अहं का भान ही नहीं होगा। अहं के होने पर ही समस्त अहं का भान होता है । जब अहं का लय हो जाता है तो अहं का भान नहीं रह जाता है । इसलिए सारा संसार अहं रूप है । अहं रूप का खोज करो, तब सबके ऊपर विजय प्राप्त हो जाय । यहाँ जो 'मैं' है, उसी का नाम जीव है । यहाँ गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

विषय करण सुर जीभ समेता । सकल एक सन एक सचेता ।।
सबकर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।।

अब हम आपके सामने एक वाक्य प्रस्तुत करते हैं । मैं सूर्य के प्रकाश में आँखों से घड़े को देख रहा हूँ । मैं, सूर्य का प्रकाश, आँख और घड़ा इन चारों का जिसे ज्ञान हो रहा है । मैं से लेकर घड़े तक, जो सबका परम प्रकाशक है, उसका नाम राम है । इसतरह महावाक्य के द्वारा जब दोनों

अभिन्न हैं । तब इनके अभेद की आवश्यकता क्या है? यदि महावाक्य का स्वयं का अभेद किया जाय कि आत्मा, मन है, बुद्धि नहीं, इन्द्रिय नहीं प्रत्युत् इन सबसे अलग है । ब्रह्म के साथ अभेद की आवश्यकता क्यों पड़ गई? यहाँ बात यह है कि इसमें दोनों का लाभ होता है । जीव का भी लाभ है और ब्रह्म का भी लाभ है । ब्रह्म का लाभ यह है कि ब्रह्म सत्य है, अखण्ड है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, सबकुछ हैं ।

लेकिन जब तक वह आत्मा से भिन्न है । तब तक ज्ञेय रहेगा । हम से भिन्न हो गया, हमारा ज्ञेय बना, उसमें जड़ता की सम्भावना है और फिर मिथ्यात्व भी चला जायेगा । आत्मा से भिन्न होने पर कभी भी स्वप्रकाश नहीं हो सकता और आत्मा के साथ हम ब्रह्म में अभेद न समझें, तो आत्मा में जो परिछिन्नता है, जो हम यह समझ रहे हैं कि केवल इस शरीर के भीतर हम ही हैं । इसके बाहर नहीं है तो आत्मा की परिछिन्नता दूर होनी चाहिए। जब ब्रह्म और जीव का अभेद श्रुतियों के द्वारा बोधित होता है, आत्मा की परिछिन्नता चली जाती है और ब्रह्म की परोक्षता भी चली जाती है क्योंकि अपरोक्ष तो आत्मा ही है । अपरोक्ष, माने जो प्रकाश स्वरूप हो, जिसका हमको बोध हो । अपरोक्ष बोध तभी हो सकता है, जब हमारी आत्मा से भिन्न हो । आत्मा नित्यप्रोक्ष है । आत्मा को सब जानते हैं । ऐसा कोई प्राणी नहीं हैं, जो अपने को न जानता हो, बस गड़बड़ यही है आत्मा को तो जानते हैं लेकिन उस आत्मा को अनात्मा को मिलाकर जानते हैं और अनात्मा से मिलाकर जानने के कारण आत्मा में परिछिन्नता का आरोप हो जाता है । अब हमने जब अपने आप को शरीर समझ लिया, तो साढ़े तीन हाथ के हो गये । अगर शरीर से अलग होते तो साढ़े तीन हाथ की मात्रा हमारी कैसे बनती । इसीप्रकार हमने अपने आपको अन्तःकरण समझ लिया, तो अन्तःकरण के इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि सभी हममें आरोपित हो गये हैं और हम सुखी दुःखी बन गये तथा हमने जब अपने आपको

अन्त:करण का एक भाग बुद्धि को जो कर्ता है, अपनी आत्मा समझ लिया तो हम कर्ता बन गये । कर्ता बनने के बाद भोक्ता बन गये, भोक्ता बनने के बाद संसार का चक्र चल पड़ा । इसलिए यदि आत्मा का स्वरूप ठीक-ठीक समझ लेते हैं तो आत्मा अपरोक्ष तो है नहीं, उसे अलग से जानना है ही नहीं । उसका बोध तो हमें है ही । आप यह देखिए कि बहुत से लोग आत्मसाक्षात्कार करने के लिए बैठ गये । हम आत्मा का साक्षात्कार, ब्रह्म का ध्यान कर रहे हैं । यदि हम ब्रह्म को जानने की कोशिश करेंगे, तो ब्रह्म की जगह कोई कल्पित वस्तु ही मस्तिष्क में आयेगी, क्योंकि ब्रह्म तो आपके मस्तिष्क का विषय है नहीं । मन और वाणी का विषय है ही नहीं तो आयेगा कैसे और जो भी आयेगा सीमित आयेगा, परिछिन्न आयेगा । बहुत से लोग ऐसे हैं, जो ध्यान की विधि बतलाते हैं और कहते हैं कि हम तुमको ब्रह्मदर्शन करा देंगे और हो भी जाता है प्रकाश जैसे दर्शन । एक हमारे यहाँ सन्मुखी मुद्रा है वह सन्मुखी मुद्रा लगा दी जाय, तो प्रकृति में प्रकाश दिखाई पड़ता है । कुछ लोग समझते हैं कि यही ब्रह्म है और वे कहते हैं कि हमने ब्रह्म का दर्शन कर लिया । लेकिन ब्रह्म का दर्शन आपने कर लिया तो वह ब्रह्म रह कहाँ गया । यह दृश्य हैं और दृश्य होने के कारण वह वास्तविक ब्रह्म नहीं है । जो ज्योतियों की ज्योति हैं । जितनी भी ज्योतियाँ हैं, सबको प्रकाशित करने वाली ज्योति है, वह कभी किसी का गोचर नहीं बन सकती । कभी किसी का विषय नहीं बन सकती ऐसी ज्योति है परमात्मा । तो उस परमात्मा का हम ध्यान करें, यदि हम उसको जानने का प्रयत्न करेंगे तो हम उसका कल्पित रूप खड़ा कर देंगे । इसलिए जानने का प्रयत्न छोड़ दीजिए । ब्रह्म तो आप हैं ही । अपने आप को आप पहले से ही जानते हैं । केवल उस आत्मा में जो कुछ आपने मिला लिया है, उसको उसमें से हटा दीजिए । कुएँ को यदि आकाश से भरना है, तो बाहर से आपको आकाश लाने की आवश्यकता नहीं है । कुएँ में जो मलबा भरा

है, उसको निकाल कर फेंक दीजिए । कुएँ को आकाश से भरा हुआ पायेंगे। इसीप्रकार आत्मा सभी को विदित ही है, सब लोग आत्मा को जानते हैं, केवल अनात्मा को मिला लिया था । अनात्मा को आत्मा से हमने पृथक् कर लिया, जो बचा, वही आत्मा है । जो रह गया वही ब्रह्म है । यह महावाक्य बतलाता है -

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यः परम्पदम् ।
निराकर्तुमशक्यत्वात् सोऽमस्मि सुखी सदा ।।

नेति-नेति कहकर अशेष से विशेष का निषेध कर दिया जाता है, और जिसका निषेध नहीं किया जा सकता, जिसका निराकरण नहीं हो सकता, वह मैं हूँ । वही ब्रह्म है । इसका ज्ञान होते ही अविद्या ग्रन्थि समाप्त हो जाती है, और ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है । उसके सारे दुःख समाप्त हो जाते है ।

श्रीराम जय राम जय जय राम ।
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ।

ॐ

उपस्थित विद्वत् बंधुओं, देवियों और सज्जनों,

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा ने कहा कि जो मेरे अनन्य भक्त होते हैं -

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।

उन भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिये मैं आत्मभावस्थ होकर, अत्यन्त प्रकाशयुक्त ज्ञानदीप से उनके अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश कर देता हूँ । 'आत्मभावस्थाः' यहाँ अपने सम्बन्ध में भगवान् ने बतलाया कि आत्मभाव में स्थित यह आत्मभाव ही महावाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारित वृत्ति है । यह वेदान्त का सिद्धान्त है कि ब्रह्म न तो किसी का साधक है, न बाधक । ब्रह्म अज्ञान का भी विरोधी नहीं है । क्योंकि अज्ञान का भी प्रकाश ब्रह्म से ही होता है । अहं ब्रह्म न जानामि - मैं ब्रह्म को नहीं जानता। यह ज्ञान भी मुझे ही होता है । इसका अर्थ यह है कि अज्ञान का भी आत्मा प्रकाशक हुआ । यदि आत्मस्वरूप प्रकाश अज्ञान का विरोधी होता, तो अज्ञान तो पहले ही नष्ट हो जाना चाहिए । परन्तु नहीं होता । इसलिए यह मानना पड़ता है कि जब महावाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारित वृत्ति में आत्म चैतन्य अधिरूढ़ होता है, तब वह अविद्या का नाश करता है । उसे दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि जैसे रुई की राशि पड़ी है । सूर्य की किरणें उसके ऊपर पड़ती हैं । परन्तु वे सूर्य की किरणें रुई को सीधे-सीधे नहीं जलाती, किन्तु जब सूर्य का प्रकाश सूर्यकान्तमणि पर अधिरूढ़ होकर रुई के ढेर पर पड़ती है, तो आग पैदा हो जाती है । इसीप्रकार महावाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्ति जो अन्तःकरण में है, उसमें उपारूढ़ जो

आत्मचैतन्य है, वह अविद्याजन्य कर्मों का विनाश करता है । ये महावाक्य भगवान् को आत्मभावस्थ करते हैं । इसलिए इनका बहुत महत्त्व है । महावाक्य की जो ब्रह्माकारवृत्ति है, उसी को ब्रह्मविद्या कहा जाता है । इस ब्रह्मविद्या के बिना ब्रह्म के उपस्थित होने पर भी प्राणी को सुख शान्ति नहीं मिलती । उसके दु:ख का अन्त नहीं होता । रामायण की चौपाई हमने सुनायी थी -

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी । सत चेतन घन आनंदरासी ।।
अस प्रभु हृदय अछत अधिकारी । फिरइ जीव जन दीन दुखारी ।।

एक व्यापक अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्राणियों के हृदय में विद्यमान है, फिर भी प्राणी दीन और दु:खी बनकर भ्रमण कर रहे हैं । संसार में घूम रहे हैं । इसका अर्थ यही है कि परमात्मा के पास रहने पर भी वे उसको जान नहीं पा रहे हैं । बिना जाने भगवान् इस जीव का पालन नहीं करते । यह देव जब तक विदित नहीं हो जाता, तब तक रक्षा नहीं करता । इसलिए महावाक्य भी जब श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु से श्रवण किया जाता है, तब वह अविद्या, अज्ञान का विनाश करता है । इसलिए यह माना जाता है कि शास्त्रों का, वेदों का ज्ञान गुरु के द्वारा होना चाहिए । सीधे-सीधे कोई वेदों को पढ़ना चाहे, जानना चाहे तो उसको उसके अर्थ का ठीक से ज्ञान नहीं होता । जब वह गुरु से पढ़ता है, तभी वेदों का सम्यक् ज्ञान हो पाता है । किसी कवि ने कहा है कि -

वेद उदधि विनु गुरु लखै लागे लोन समान ।

वेदरूपी समुद्र बिना गुरु के कोई पीना चाहे, तो वह खारा लगता है । समुद्र का पानी सीधे-सीधे आप पिएँ, तो अत्यन्त खारा मालूम पड़ेगा लेकिन वही समुद्र का पानी जब मेघ के द्वारा बरसता है, तो अमृत के समान मधुर हो जाता है । उसीप्रकार वही वेदवाणी गुरु के द्वारा ग्रहण करते हैं, तो अमृत से भी अधिक मधुर हो जाती है । जब यह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु से महावाक्यों का श्रवण करें, तो अर्थ सहित महावाक्य का पुण्य

प्राप्त होता है । लेकिन अज्ञान का नाश तब होता है, जब उसके पदार्थों का शोधन किया जाय । तत् पदार्थ का शोधन करें, त्वं पदार्थ का शोधन करें। फिर शोधित तत्, त्वं पदार्थ का ऐक्य महावाक्य के द्वारा जानें, तो निश्चितरूप से विद्याग्रन्थि का विच्छेद हो जाता है । अज्ञानता का विनाश हो जाता है। तो ये जो हमारे महावाक्य हैं, य शब्द हैं । सीधे सीधे ब्रह्म का बोध नहीं कराते । यहाँ उनका लाभ हम बता चुके हैं - ब्रह्म का बोध निषेध के द्वारा कैसे होता है ? अनेक श्रुतियों में वाच्यार्थ का निषेध कर लक्ष्यार्थ को बताया गया है। रामचरित मानस के एक प्रसंग से इसको समझा जा सकता है -

भगवान् राम सीता और लक्ष्मण के साथ वन में प्रस्थान कर रहे हैं । मार्ग में जब लोग सुनते हैं कि राम, लक्ष्मण और सीता बन जा रहे हैं, तो उनके दर्शन के लिए दौड़ पड़ते हैं । ग्राम के दरबारी, महिला, बालक, वृद्ध, महात्मा भगवान् के दर्शन से अपना जीवन सफल बना रहे हैं । वे भगवान् को थोड़ा रूकने के लिए अनुरोध करते हैं । बात यह है कि श्रीराम में ऐसा अद्भुत सौन्दर्य था, वाल्मीकिजी ने लिखा है कि कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो भगवान् राम के सामने से निकलने पर अपने नेत्रों को और मन को उनकी ओर से लौटाने में सक्षम हो जाय । भगवान् श्रीराम दूर चले जाते थे, तब भी नेत्र उनके साथ चले जाते थे, उसी ओर देखता रहता था, एकटक । मन तो चला ही जाता था, ऐसा अद्भुत सौन्दर्य माधुर्य भगवान् का था । एक स्थान पर भगवान् श्रीराम जब पहुँचे तो -

एक कलश भरि आनहिं पानी । अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी।।

एक व्यक्ति कलश में शीतल जल लेकर आ जाते हैं और कहते हैं - भगवन्! थोड़ा सा आचमन कर लीजिए । लक्ष्मण सीता प्यासे हैं, इनको थोड़ा जल पिला दीजिए । जब तक भगवान् आचमन की सोचते हैं, तब तक कोई कुश का आसन बिछा देता है और कहता है महाराज! थोड़ा-सा बैठ जाइये । श्रम का अपनोदन कर लीजिए । कुछ लोग कहते हैं, भगवन्! अब तो सायंकाल हो गया, अब रात्रिविश्राम इसी वृक्ष के नीचे किया जाय।

आप कल जाइयेगा । इसप्रकार ग्राम-ग्राम में भगवान् के दर्शन से आनन्द हो रहा था। उसी प्रसंग की बात है कि एक स्थान पर पुरुषों ने राम को घेर लिया और उनके आसपास बैठ गये । ग्राम वधूटियों ने सीताजी को घेर लिया और प्रश्न करने लगी -

राजकुमारि विनय हम करहीं । तिय सुभायँ कछु पुछत डरहीं ।।
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी । बिलगु न मानब जानि गँवारी ।।
राजकुँअर दोउ सहज सलोने । इन्ह तें लही दुति मरकत सोने ।।

हे राजकुमारी! हम तुमसे कुछ पूछना चाहती हैं, स्त्रीस्वभाव होने से स्वाभाविकरूप से जिज्ञासा होती है, अपने आप को रोक नहीं पा रही हैं । लेकिन मन में डर भी लगता है कि हम गँवारी हैं, कहीं हमसे कुछ अनुचित शब्द न निकल जाय । ये दो राजकुमार तुम्हारे साथ हैं, वे बड़े सुन्दर हैं, बड़े सलोने हैं और ज्येष्ठ राजकुमार को देखकर ऐसा लगता है कि इनके सौन्दर्य को मरकतमणि ने चुराई है और छोटे राजकुमार की सुन्दरता को स्वर्णमणि ने चुराई है । ऐसे अद्भुत सौन्दर्य माधुर्य से युक्त दोनों राजकुमार तुम्हारे कौन हैं -

कोटि मनोज लजावनिहारे । सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ।।

यह बताओ कि करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाले तुम्हारे कौन हैं। सीधा-सा प्रश्न तो यह लगता है - देखने में कि वे दोनों से रिश्ता पूछ रहीं हैं कि ये दोनों राजकुमार तुम्हारे कौन लगते हैं । लेकिन वस्तुत: इसके पीछे यह बात छिपी है कि ये दोनों करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाले हैं। परन्तु इनमें से तुम्हारे जीवन सर्वस्व, प्रियतम, प्राणधन कौन हैं, वे यही जानना चाह रहीं हैं । यहाँ प्रश्न एक के सम्बन्ध में है और वे दोनों के सम्बन्ध में आशंका कर रही हैं, इनमें से कौन हैं ? तो यहाँ पर दार्शनिकभाव से देखा जाये तो जानकीजी ब्रह्मविद्या हैं, ग्रामवधूटियाँ जिज्ञासु-जन हैं, श्रुतियाँ हैं । श्रुतियाँ जानना चाहती हैं कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है? हमारे उपनिषदों में आता है कि ब्रह्म के दो रूप हैं - एक मूर्त, दूसरा

अमूर्त। पृथ्वी, जल और तेज यह ब्रह्म का मूर्त रूप है तथा वायु और आकाश ब्रह्म का अमूर्त रूप है । इसप्रकार ब्रह्म के दो रूप बतलाकर श्रुतियाँ निषेध करती हैं । नेति, नेति, इति न - यह जो नेति-नेति है, उस रूप को बतलाया, वह भी नहीं है, और जो अमूर्त रूप से बतलाया, वह भी नहीं है । इन दोनों का निषेध करने पर जो बच रहा, वही है । इसप्रकार न इति न इति कहकर जो प्रतीत होने वाले मूर्त अमूर्त ब्रह्म के रूप हैं, उनका निषेध करके यह मूर्त अमूर्त दोनों से विलक्षण है, उसका बोध श्रुतियाँ कराती हैं ।

केनोपनिषद् में शिष्य प्रश्न करता है अपने गुरु से -

केन इषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केन इषितां वाचं इमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

कौन ऐसा देवता है, कौन सा देव है, जिससे प्रेरित होकर मन अपने विषय में जाता है । किसकी प्रेरणा से, किसके इंगित से यह प्राण चलता है । ग्रहण अग्रहण करता है । वाणी किसकी प्रेरणा से बोलती है, नेत्र और कान किसके द्वारा नियुक्त होकर रूप और शब्द को जानते हैं ।

गुरु उत्तर देते हैं -

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः यद् वाचो ह वाचं, स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषः चक्षुः अतिमुच्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति ॥

जिसके सम्बन्ध में तुम प्रश्न कर रहे हो, वह श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन हैं, वाणी का वाणी है, प्राण का प्राण है, नेत्रों का नेत्र है । इन सबको छोड़कर इस संसार से मरकर लोग अमृत हो जाते हैं। इसका यह अर्थ है। तो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, प्राण का प्राण, वाणी का वाणी यह कौन है, जिसकी सत्ता से, स्फूर्ति से यह सत्तावान् स्फूर्तिवान् होते हैं । वह है - श्रोत्र का श्रोत्र । श्रोत्र का श्रोत्र उसको इसलिए कहते हैं कि श्रोत्र माने कर्णेन्द्रिय में जो सुनने की क्षमता है, वह उसकी अपनी नहीं है । वह आत्मचैतन्य से चैतन्य ग्रहण करके, शब्द को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त

करता है । जैसे अग्नि में लाल किया हुआ लोहे का पिण्ड, जलाता है, तो वह लोहा किसी भी वस्तु को जलाता है । वस्तुत: लोहे में जलाने की शक्ति लोहे की नहीं है, अग्नि की है । तो हम यह कह सकते हैं, अग्नि जलाने वाले को जलाने वाला है । जलाने वाला लोहे का पिण्ड और उसको भी जलाने वाला अग्नि । इसप्रकार हमारी इन इन्द्रियों में जो अपने अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति है, वह शक्ति उनकी अपनी नहीं है । आत्मचैतन्य से शक्ति लेकर ये उसको प्रकाशित करते हैं । तो इन आत्मचैतन्य से प्रकाशित होने वाले श्रोत्र, नेत्र, प्राण, मन, वाणी इन सबका त्याग करके इन सबसे अलग होकर जो इनका साक्षी है, वह जो इनको सत्ता और स्फूर्ति देने वाला है; उसमें यदि मनुष्य परिनिष्ठ हो जाय, इनसे मर जाय, इनमें जो आत्मबुद्धि है, वही इनका जीवन हो जाय, तो इनमें से अपनी आत्मबुद्धि को हटाकर वह वस्तुत: अमृत हो जाता है । भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य जी इस प्रसंग में कहते हैं कि -

अमृता भवन्ति इत्युपचर्यते, अमृतस्वरूपत्वादात्मन: ।

वे अमृत हो जाते हैं, यह तो औपचारिक प्रयोग है । वस्तुत: आत्मा तो अमृत स्वरूप ही है । या गुरु ने, आचार्य ने शिष्य को समझाया और कहा कि इस पर मनन करो । मनन करके बतलाओ कि क्या समझा ? शिष्य एकान्त में गया, विचार किया और लौटकर गुरुजी से बोला गुरुजी मैंने जान लिया कि जो श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, प्राण का प्राण है, चक्षु का चक्षु है, वाणी का वाणी है, मैं उसको जान गया । गुरु बोले - अभी तुमने उसके बाह्यरूप को ही जाना । वस्तुत: तुमने उसको नहीं जाना । क्योंकि जो कुछ जाना जायेगा, अहं के द्वारा जाना जायेगा, मैं के द्वारा जाना जायेगा । तो मैं की परिधि में आने वाला मैं से छोटा होगा । जबकि 'मैं' भी ब्रह्म की दृष्टि में बहुत छोटा है । अब आप समझ लीजिये कि अनन्त अखण्ड आकाश में हम बैठे हैं, इस भवन के भीतर, इस भवन का एक नक्शा बन गया और उसमें जो आकाश है, उसमें हम अपने आपको देख

रहे हैं । हमने आकाश को एक मकान से सीमित कर लिया, आकाश को मठाकाश के रूप में देख रहे हैं । परन्तु आकाश कितना बड़ा है । अनन्त आकाश की दृष्टि से यह हाल कितना छोटा है । इसीप्रकार अनन्त, अखण्ड स्वप्रकाश की दृष्टि से जब देखा जाय तो यह साढ़े तीन हाथ का शरीर कितना छोटा है। इस साढ़े तीन हाथ के शरीर को जो हम 'मैं' समझ रहे हैं । हमने 'मैं' समझ लिया, हमने अपने आप को कितना छोटा बना लिया। इसीतरह जिसने शरीर के साथ-साथ, स्थूलशरीर के साथ-साथ, सूक्ष्मशरीर को भी 'मैं' बना लिया । तो हम स्वयं अनन्त की अपेक्षा अति सीमित बन गये । अब उसमें से जो जाना जायेगा वह उससे भी छोटा होगा। तथा ज्ञेय ज्ञाता से बड़ा होता है, क्योंकि ज्ञेय ज्ञाता के ज्ञान में समाता है । इसलिए तुमने यदि उसको जान लिया तो उसके सीमित रूप को ही जाना है, और विचार करो । अब फिर वह एकान्त में गया, फिर गुरु के वचनों को मन में लाकर सोचा, भलीभाँति विचार करने पर उसकी समझ में आ गया और आकर उसने गुरुजी से कहा गुरुजी अब सुन लीजिए -

नाहं मन्ये सुवेद इति न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद्द तद्वेद नो न वेदेति वेद च ।।

मैं उसके बारे में यह नहीं कह सकता कि मैं उसको अच्छी तरह से जानता हूँ, नाहंमन्येसु वेदेति, मैंने उसे सम्यक्रूप से जान लिया, यह मैं नहीं मानता । ठीक है कि कह दो कि नहीं जानते, पर जो न वेदेति, न वेदति, मैं नहीं जानता यह भी नहीं है, वेद च, जानता भी हूँ । भाई तुम्हारा ज्ञान तो विचित्र है, तुम कहते हो - नहीं जाना और तुम कहते हो - जाना, दो में से एक बात होनी चाहिए । यह तुम्हारा भ्रमात्मक ज्ञान नहीं है? तो वह कहता है - **यो नस्तद्वेद्द** । हम सब ब्रह्मचारियों में गुरु के शिष्यों में जो इस रूप से परमात्मा को जानता है, वह ही जानता है और उसके जानने का यही प्रकार है - **नो वेदेति वेद च** । मैं नहीं जानता, यह भी नहीं, मैं जानता हूँ, यह भी नहीं - **विदिता-विदिताभ्याम् अन्यद् ब्रह्मणोरूपम्** ।

ब्रह्म का रूप विदित और अविदित दोनों से विलक्षण है । इसका एक अर्थ और भी किया गया है । विदित-अविदित का वह कार्यात्मक प्रपंच है, वह विदित और जिसका कारण अज्ञान-अविद्या है, वह अविदित है । तो परमात्मा कार्य-कारण दोनों से विलक्षण हैं, यह भी इसका अर्थ है। दूसरे, जो हमको विदित हो रहा है वह भी नहीं है और जो विदित नहीं है, वह भी नहीं है । ऐसा ब्रह्म का स्वरूप है । हमारा जो स्थूल शरीर हैं, वह अन्न से बना है । माता पिता का रज वीर्य अन्न से बना, उससे यह उत्पन्न हुआ । अन्न से यह बढ़ा । इसलिए इस स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहते हैं । पञ्चेन्द्रियाँ और पञ्चप्राण दोनों मिलकर प्राणमय कोष कहलाते हैं । मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर मनोमय कोष कहलाते हैं । बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर विज्ञानमय कोष कहलाते है । अज्ञान और अविद्या को आनन्दमयकोष कहते है । तो ये पञ्चकोष आत्मा से विलक्षण हैं । इसीप्रकार आत्मा का दर्शन होता है । एक निर्भयदास नाम के महात्मा हुए । उन्होंने एक पुस्तक लिखी है, निर्भय विलास - बड़ी विलक्षण पुस्तक है । उन्होंने एक दोहे में बड़ी अच्छी बात लिखी है -

तीन अवस्था तीन गुण पञ्चकोष त्रय देह ।
निर्भय इनते भिन्न तू, घट-घट द्रष्टा एक ।।

इस दोहे का अर्थ है - तीन अवस्था । तीन अवस्था हुई - जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति । तीन गुण - सत्, रज, तम । त्रय देह - स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह । इन तीनों शरीरों के भीतर पञ्चकोष भी आ जाते हैं । स्थूल शरीर तो अन्नमयकोष हो गया । प्राणमयकोष, मनोमयकोष और विज्ञानमयकोष, ये सूक्ष्म शरीर में आ गये और आनन्दमयकोष यह कारण शरीर में आ गया। तीन अवस्था, तीन गुण, पञ्चकोष और त्रि देह अब आप इसमें विचार करके देखें, तो सारा दृश्य प्रपञ्च इन चारों में ही आ जाता है । दृग् दृश्य का जब हम विवेक करते हैं, द्रष्टा को दृश्य से अलग करते है, तो दृष्टकोटि में ये चारों आते हैं । तीन अवस्थाएँ आ गईं, जाग्रत् - जो कुछ

जाग्रत् में दिखाई पड़ता है । वह सब इस अवस्था के भीतर है । वह हमारा सब दृश्य बन गया, फिर स्वप्न । हम जाग्रत् अवस्था में देखकर उनके संस्कारों से एक नई सृष्टि का निर्माण करते हैं । स्वप्न में वह स्वप्न बन गया और फिर अज्ञान कारण शरीर । इसप्रकार विदित और अविदित जाग्रत् और स्वप्न तो हो गये विदित और कारण शरीर हो गया, सुषुप्त अवस्था हो गयी अविहित । यह सारा दृश्य प्रपंच चाहे आप तीन अवस्थाओं में ले लीजिए, चाहे पञ्चकोशों में ले लीजिए और चाहे तीन शरीरों में ले लीजिए, चाहे तीन गुणों में ले लीजिये । सारा दृश्य प्रपंच इनके भीतर ही आ जाता है । इनके बाहर कुछ भी नहीं है । तो यह सबका सब दृश्य है। दृश्य उसको कहते हैं, जिसको हम जान लें । जो हमारा ज्ञेय बन जाय । दृश्य का मतलब यह नहीं है कि हम केवल आँख से देखें । इसको मन से भी देखते हैं और मन को भी जिससे देखते हैं, तो हम मन को भी जानते हैं। जानना ही जिसका जाना जाय, जो ज्ञेय बने, जो ज्ञान का गोचर बन जाय, ज्ञान का विषय बन जाय । उसका नाम दृश्य है । ऐसा दृश्य देखा जाय तो सारा का सारा - तीन अवस्थाएँ, तीनगुण, पञ्चकोश के भीतर आ जाता है। अब निर्भयविलास के कर्ता कहते हैं - **निर्भय इनते भिन्न त्**। तू इनसे भिन्न है । तो इन पञ्चकोश, तीन अवस्था और तीन गुण से अपनी आत्मा को उसने जाना । ठीक है, मैं इनसे अलग हूँ । लेकिन ब्रह्म क्या है ? तो उत्तर दिया - घट घट द्रष्टा एक । समस्त घटों का, समस्त क्षेत्रों का जो क्षेत्रज्ञ है, वह क्षेत्रज्ञ यही है । जो इन सबसे विलक्षण है । यहाँ पहले भी सबका निषेध किया और फिर उसी से ब्रह्म रूप का अनुभव कराया ।

यहाँ प्रसंग चल रहा था - जानकीजी का । वह भगवान् राम के पूछे जाने पर सोचती हैं - राम के दर्शन का प्रतिपादन कैसे करूँ? कोई साधारण मनुष्य की बात हो तो सीधे ही बोला जा सकता है । लेकिन यह तो मनुष्य की बात नहीं है । भगवान् राम का भी ध्यान उधर चला गया कि जानकी जी से विलक्षण प्रश्न किया गया है ।

कोटि मनोज लजावनिहारे । सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ।।

तो उन्होंने सोचा कि देखें उत्तर क्या देतीं हैं? अब जानकीजी ने कहा-

सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लखनु लघु देवर मोरे ।।

वे जो सरल स्वभाव के हैं, जिनका गौरवर्ण है । उनका नाम लक्ष्मण है और वे मेरे छोटे देवर हैं । तो उनको समझ जाना चाहिए कि वे देवर हैं तो दूसरे उनके कौन हैं? सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे । तो ये देवर हैं, स्वाभाविक रूप से समझे जा सकते हैं कि ये कौन हैं ? परन्तु इतने पर भी वे न समझीं । अतत् के द्वारा अतत् का निषेध करके यहाँ बताया । हमारे यहाँ अरुन्धती न्याय है । माता अपनी पुत्री को चिर सौभाग्य प्राप्त करने के लिए अरुन्धती को प्रणाम करने की आज्ञा देती हैं । माता पुत्री से कहती है - पुत्री तूँ अरुन्धती का दर्शन करके प्रणाम कर । वह पूछती हैं माँ अरुन्धती कहाँ हैं? तो माँ कहती है कि वह एक तारा के रूप में गगन में है । आकाश में है, वह देखती है । अनगिनत तारे दिखलाई पड़ते हैं । पूछती है, इनमें से अरुन्धती कौन हैं । माँ कहती है, सब तारों को छोड़ दो । जो सात तारे दिखलाई पड़ रहे हैं, इनमें देख । अब उन सात तारों में उसकी दृष्टि चली जाती है । उसके बाद माता कहती है - चार ऊपर के छोड़ दे, नीचे के तीन देख । इनमें अरुन्धती हैं । पुत्री फिर पूछती, ये तीन हैं, इनमें कौन है? तो माँ कहती है - दो छोड़ दे ऊपर, नीचे वाले को देख । बोलती है, क्या यहीं हैं - अरुन्धती । माँ ने कहा हाँ - जो इसके पास छोटा सा तारा टिमटिमाता है, वही अरुन्धती हैं । तो सबका निषेध कर देने के पश्चात् जो बचा, वह अरुन्धती हैं । समझ जाती है पुत्री इसका नाम है अरुन्धती - न्याय । इसी प्रकार श्रुतियाँ सबका निषेध करके परमात्मा का दर्शन कराती हैं । तो जानकीजी ने कहा, जो सरल स्वभाव और गौरवर्ण के हैं, लक्ष्मण नाम वाले हैं, वे मेरे छोटे देवर हैं । लेकिन फिर भी वे देखती ही रह गयी ।

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ।।

उन्होंने अपने मुखचन्द्र को आँचल से ढँका और अपने नेत्रों से अपने प्रियतम राघवेन्द्र रामचन्द्रजी की ओर देखा, खंजन के समान नेत्रों से उन्होंने संकेत से ही अपने प्रियतम का परिचय करा दिया । इसी प्रसंग में थोड़ा पहले भगवान् के मुख की उपमा शरदऋतु की पूर्णिमा के चन्द्रमा से दी गयी है और यह स्वाभाविक है कि खंजनों का शरद्ऋतु से प्रेम होता है । **निरखि शरदऋतु खंजन आये** । तुलसीदास जी महाराज ने कहा है कि - खंजनों के समान नेत्र और सुन्दर मुख चन्द्रमा के समान जानकी को देखकर उन नेत्रों ने जो उनके प्रति स्नेह दिया है, उसका जानकीजी दर्शन कराती हैं । जो प्रेम है, मनुष्य के जो भाव हैं, उन भावों को जितना नेत्र प्रतिबिम्बित करता है, नेत्रों से जितना सरलता से जाना जा सकता है उतना और किसी प्रकार नहीं जाना जा सकता । कहा गया है कि -

भूख, प्यास, आलस्य, हँसी, भय, प्रेम और द्वेष, ये सब मनरूपी राजा के गुण हैं । ये नेत्र रूपी मंत्री अपने राजा के समस्त गुण दोषों को जानता है, यह उसको कह देता है । यदि कोई भूखा है, तो नेत्रों से पता चल जाता है कि इसे भूख लगी है । प्यासे का भी नेत्र से ज्ञान हो जाता है । आलस्य भी नेत्रों में आता है और हास्य भी मनुष्य के नेत्रों में आता है । स्नेह भी नेत्रों में आता है । भय और प्रेम भी नेत्रों में आता है। नेत्रों से सब कुछ पता चल जाता है । तो जानकीजी का भगवान् राम के प्रति जो भाव है, उस भाव को वे नेत्रों से इंगित करके बतलाती हैं । पहले भगवान् राम की ओर देखती हैं फिर ग्राम वधुओं की ओर देखती हैं । यह भी समझाती हैं कि प्रियतम के प्रति प्रेम कैसा होता है? तो उनके नेत्रों से ही वह समझ जाती है -

खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ।।

खंजन के समान तिरछे नेत्रों से अपने पति का परिचय कराया ।

भई मुदित सब ग्रामबधूटीं । रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं ।।

सीताजी के इस प्रकार परिचय कराये जाने पर ग्राम वधुएँ आनन्द मग्न हो गयीं जैसे रंको को राजा का खजाना लूटने को मिल गया हो । भक्तलोंग कहते हैं कि जानकी जी के नेत्रों में ही राम थे -

लोचन मग रामहि उर आनी । दीन्हें पलक कपाट सयानी ।।

पुष्प वाटिका प्रसंग में आता है कि नेत्रों के मार्ग से राम को हृदय में लाकर जानकी जी ने पलक के किवाड़ लगा दिये, जिससे राम उनके हृदय से न निकल सके । उनके हृदय में राम एक प्रकार से कैद थे । आज उन्होंने इन ग्राम वधूटियों को नेत्रों के द्वारा दान कर दिया । इसलिए वे परम आनन्द का अनुभव करती हैं -

भई मुदित सब ग्रामबधूटीं । रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं ।।

इस प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार शब्द से होता है । नव योगियों के संवाद में आता है कि उस परमात्मा में न तो मन का प्रवेश है, न तो वाणी का प्रवेश है, न नेत्रों का प्रवेश है । शब्द केवल उसको जनाता है और वह भी केवल बोधक निषेधतया निषेध के द्वारा उस परमात्मा का बोध कराता है । सबका निषेध, यह नहीं नहीं कहते सबका निषेध कर देने के पश्चात् जो निषेध करने वाला है, उसका निषेध कौन करे । अपना तो कोई निषेध कर नहीं सकता । जो अपना ही निषेध कर दे, तो निषेध की सिद्धि कैसे होगी । जैसे कोई कहे - सर्वं शून्यम् । सब कुछ शून्य है । बौद्ध लोग कहते ही हैं - सर्वं शून्यम् । जब उनसे पूछा जाता है कि सर्वं शून्यम्, यह जानने वाला कोई है कि नहीं । शून्य का किसने अनुभव किया । इसका अनुभव करने वाला अगर कोई है तो सर्वं शून्यम् कहाँ हैं? जो अनुभव करने वाला है, वह तो है ही । शून्य का तो अर्थ होता है, अत्यन्त अभाव । नास्ति-नास्ति है ही नहीं, यदि वह नहीं होता तो शून्य का अनुभव कौन करता । इसलिए प्रश्न यह होता है कि शून्य साक्षित है या निसाक्षित है । इसलिए भगवान् श्रीमन्नारायण शेषशय्या पर शयन करते हैं, यह कहा जाता है ।

अर्थात् सबका निषेध कर देने पर जो निषेधाकार वृत्ति हो, उस निषेधाकार वृत्ति में ब्रह्म शयन करता है । वह निषेधाकार वृत्ति जिसमें सबका निषेध है, उसका पृथक् नहीं है । इसलिए शेष भी भगवान् के स्वरूप ही माने जाते हैं । भगवान् का जब अवतार होता है । ब्रह्म का परार्ध का अन्त होने पर समस्त लोक नष्ट हो जाते हैं । जिस क्रम से संसार की सृष्टि हुई है, इसके विपरीत क्रम से संसार का विलय होता है ।

हमने आपको कल बताया था कि सृष्टि के प्रारम्भ में एक ब्रह्म था । सृष्टि के प्रारम्भ में यह नामरूपात्मक जगत् कुछ न था, केवल सत्य था । यह स्वयं ही सत्य रूप अवस्थित था । परमात्मा के आश्रित एक अनिर्वचनीया शक्ति थी। जिसको न तो सत् कहा जा सकता था न असत् और न सदासत्। जो न तो ब्रह्म से भिन्न थी, न अभिन्न थी और न ही भिन्नाभिन्न थी । इसी का नाम अनिर्वचनीया है । अनिर्वचनीय का अर्थ यह है कि जिसका निर्वचन सदात्मना को असदात्मना न कर सके; उसका नाम अनिर्वचनीय है और मिथ्या शब्द का अर्थ भी यही है । जो हम शङ्कराचार्य जी के सिद्धान्तों को सुनते हैं - **ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या ।** तो लोगों के मन में यह शङ्का होती है कि यह संसार दिख रहा है और शङ्कराचार्य जी कहते हैं कि यह मिथ्या है । यह कैसे हो सकता है? लोग कहते हैं, आप कैसे बोलते हैं महाराज । सामने यह पेड़ दिख रहा है, यह मकान दिख रहा है और यह दीवार दिखलाई पड़ रही है । यह मिथ्या कैसे है । अगर हम दीवार में सिर पटकेगें, तो सिर फूट जायेगा । अगर यह मिथ्या होती तो सिर कैसे फूटता । उसके उत्तर में हम कहते हैं कि भाई हम केवल दीवार को ही मिथ्या नहीं कह रहे हैं । हम तो सिर को भी मिथ्या कह रहे हैं । सिर भी मिथ्या, दीवार भी मिथ्या, हमारा सिर फूटना भी मिथ्या । हमारी आँखों से यह संसार दिख रहा है । हम आँख को सत्य मान लेते हैं । संसार को मिथ्या मान लेते हैं । संसार को मिथ्या मान लेते हैं, तो मन में शङ्का होती है । लेकिन आँख और संसार दोनों को एक कोटि में डालिए -

एक मजिस्ट्रेट के सामने दो चोर गये । मजिस्ट्रेट ने पूछा - तुम चोर हो । चोर ने कहा - नहीं सरकार हम चोर नहीं है । मजिस्ट्रेट ने कहा - इसका क्या प्रमाण है । दूसरे चोर से पूछा गया - तुम चोर हो । वह बोला नहीं, हम चोर नहीं है । तब मजिस्ट्रेट ने कहा - इसका क्या प्रमाण है कि तुम चोर नहीं हो । तो उसने कहा कि आप पहले चोर से पूछ लीजिए । दोनों ही चोर हैं । चोर कौन है ? इसमें क्या प्रमाण है? इसीप्रकार इन्द्रिय और विषय हैं । विषय की सत्यता आप इन्द्रिय से सिद्ध करना चाहते हैं । इन्द्रिय की सत्यता किससे करेंगे, विषय से ही करेंगे । दोनों में अन्योन्याश्रय हो जायेगा । वस्तुत: न तो इन्द्रिय सत्य है, न ही विषय सत्य है । दोनों ही मिथ्या है । मिथ्या का अर्थ क्या है? मिथ्या का अर्थ है - अनिर्वचनीय । गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि -

कोऊ कहे सत्य झूठ कह कोऊ । युगल प्रवल करि माने ।
केसव कहि न जाइ का कहिए ।
देखत तब रचना विचित्र हरि! समुझ मनहि मन रहिये ।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे ।।

तुलसीदास जी कितना सुन्दर वर्णन करते हैं, जगत् के मिथ्यात्त्व का । वे कहते है - हे केशव! क्या कहें, कहा नहीं जाता । शून्य की दीवाल है और रंग के बिना शरीर है । शरीर के इस चितेरे ने बिना रंग के ही इस दीवाल को रंग दिया है । ऐसा रंग रंगा है कि वह धोने से भी नहीं मिट सकता । इससे भ्रम दूर नहीं होता, इसके तरफ देखने से दु:ख ही दु:ख मिलता है । इसका उदाहरण उन्होंने दिया कि सूर्य की किरणों से नीर का भ्रम हो रहा है । रेतीली मरुभूमि पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो इसप्रकार चमकने लग जाती है, कि लोगों को पानी का भ्रम हो जाता है । वे सोचते हैं कि जल भरा है । मृगजल इसी को कहते हैं । बेचारे मृग इसी भ्रम में आकर कि यहाँ जल है, दौड़ पड़ते हैं अपनी प्यास बुझाने के लिए।

लेकिन भीषण गरमी की ज्वाला में झुलस कर प्राण गवाँ देते हैं । इसीप्रकार यह संसार भी मृगतृष्णा है । सूर्य की किरणों का जो नीर, जिसे मृगतृष्णा कहते हैं, बड़ा विचित्र है । बड़ा दारुण है, उसमें रूप नाम का एक मगर रहता है । उसका कोई मुँह नहीं है । लेकिन जो उस नीर का पान करने जाते हैं, उनका वह ग्रास कर लेता है । चराचर का ग्रास कर लेता है । ऐसा यह विचित्र मृगजल है । सबको डुबो देता है । इसका वर्णन करने के पश्चात् वे कहते हैं - कोई कह झूठ, सत्य कह कोऊँ । कोई कहता है कि यह सर्वथा असत्य है, है ही नहीं । लेकिन यह असत्य है, तो इसकी प्रतीति क्यों हो रही है । असत्य की प्रतीति तो होनी ही नहीं चाहिए । जैसे- बन्ध्यापुत्र, शशशृङ्ग । बांझ का पुत्र किसी ने देखा कभी, खरगोश की सींग कभी किसी ने देखी? नहीं । तो जो वस्तु नहीं है, उसकी प्रतीति भी नहीं होती । लेकिन इस संसार की प्रतीति होती है । यह दिखलाई पड़ता है । इसलिए इसको असत्य भी नहीं कह सकते और सत्य इसलिए नहीं कह सकते कि विचार करने पर इसके मिथ्यात्व का भान हो जाता है । यह संसार का रूप जैसा देखने में आता है, विचार करने पर, उस प्रकार का उपलब्ध नहीं होता है । विचार करें, तो कहाँ, वस्तु ही नहीं है । गुरु-शिष्य दोनों चले जा रहे थे । शिष्य ने कहा - गुरुजी हम थक गये । आप भी थक गये होंगे । पीछे बैलगाड़ी आ रही है, इस पर बैठ जाईये । गुरुजी ने कहा - कहाँ आ रही है? शिष्य बोला - यह आ रही है । गुरुजी बोले - गाड़ी तो नहीं है । शिष्य बोला - गुरुजी यदि हुई तो । गुरुजी बोले है ही नहीं, तुम गलत कहते हो । शिष्य ने कहा - अगर गाड़ी न हुई तो हमारे मुँह पर एक तमाचा लगाइयेगा । देखिये, गाड़ी आ रही है । गुरुजी ने कहा - अच्छी बात है । शिष्य ने कहा - गाड़ी पास में आ गयी । गुरुजी बोले - कहाँ गाड़ी । शिष्य ने जुअें पर हाथ रखा । महाराज बोले - यह तो जुआ है । बैल पर हाथ रखा । तो महाराज ने कहा - यह तो बैल हैं । खूँटें पर हाथ रखा । महाराज बोले - यह तो खूँटा है । चाक पर हाथ

रखा। तो महाराज ने कहा - यह तो चाक है । महाराज ने कहा कि गाड़ी कहाँ है? अब तो शिष्य बड़े आश्चर्य में पड़ गया । सचमुच गाड़ी तो नहीं है । उसने कहा अच्छा गुरुजी - मैं गाड़ी नहीं दिखा सका तो आप मेरे मुँह पर तमाचा लगा दीजिए । मैं अपनी बात पर कायम हूँ । गुरुजी ने कहा कि अपना मुँह बता। तो उसने गाल बताया। गुरुजी ने कहा - यह तो तुम्हारा कपोल है। उसने अपना होंठ बताया। महाराजजी ने कहा - यह तो होंठ है, दाँत है, जीभ है, तुम्हारा मुँह कहाँ है? जहाँ मैं तमाचा लगाऊँ । न ही गाड़ी मिली और न ही तुम्हारा मुँह ही मिला । तो संसार का जैसा स्वरूप देखा जाता है, जब हम इसके स्वरूप पर विचार करते हैं तो इसको इसप्रकार का नहीं देख पाते । जिसप्रकार हम देखना चाहते हैं । जैसा आपात् दृष्टि से दिखलाई पड़ता है तो यह सत् भी नहीं हो सकता क्योंकि इसका बाध हो, असत्य तो है नहीं क्योंकि असत्य रहने पर इसकी प्रतीति क्यों होती है? यह प्रश्न खड़ा होता है और अगर हम कहें कि संसार सत्य-असत्य दोनों है, तो यह बात नहीं बन सकती क्योंकि सत्य और असत्य दोनों परस्पर विरोधी हैं । अन्धकार और प्रकाश एक साथ कैसे रहेंगे? इसलिए ये दोनों भी नहीं बन सकते। तब सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है, सत्यासत्य भी नहीं है, तो क्या है ? तो हम कहेगें कि यह अनिर्वचनीय है। हम उसका वर्णन नहीं कर सकते । इसी अनिर्वचनीय का नाम मिथ्या है । तो ऐसी एक अनिर्वचनीय माया उस ब्रह्म में थी, उस माया में तीन गुण थे । उस तीनगुण वाली माया में जो विशुद्ध सत्त्व था, उसका नाम हुआ विद्या और उसी का नाम हुआ माया । उस विद्या की उपाधि से ब्रह्मा का नाम ईश्वर पड़ा और उसी का एक मलिन सत्त्व था, जो तमोगुण और रजोगुण से मिला हुआ था । उसका नाम हो गया अविद्या । उस अविद्या की उपाधि से उसका नाम पड़ा ब्रह्मचेतन और आत्मचेतन से उसका नाम पड़ा जीव । उसका जो तामसिक रूप है, उस अविद्या से वास्तव में तो अविद्या कुछ भी नहीं है । ब्रह्म से भिन्न अविद्या उपहित, ब्रह्म

से माने तमोगुणी आत्मिका अविद्या से उपहित ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि हुआ, अग्नि से जल हुआ, जल से पृथ्वी हुई। फिर इसके विषय की उत्पत्ति हुई - शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। फिर इन पञ्चमहाभूतों के अपञ्ची सात्विक अंश से अन्त:करण बना। व्यष्टि सात्विक अंश से पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ बनी और फिर इनके सृष्टि राजसिक अंश से ये पञ्चप्राण और पञ्चकर्मेन्द्रियाँ बनीं। इसी तरह जो तामसिक अंश था। उस तामसिक अंश का पञ्चीकरण हुआ, जैसा कि हमने कल बताया था।

अब जब सृष्टि का प्रलय होता है तो सारा ब्रह्माण्ड पृथ्वी में विलीन हो गया। पृथ्वी रह गई। अब पृथ्वी का अपने कारण जल में लय होता है और हम बता दें कि हमारे यहाँ पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति का, यहाँ पृथ्वी आदि क्रम है, यह समझ में आ रहा होगा। हमारे दो हाथ हैं, दोनों के बीच में आकाश है, अब दोनों को मिलाने पर मिल जायेगें क्योंकि दोनों के बीच में आकाश है। तो हमारे दोनों हाथ मिल गये। आकाश से वायु हो गया। वायु का धर्म है - स्पर्श। दोनों हाथों का स्पर्श हो गया, तो जहाँ उसका गुण है, वहाँ उसका कारण भी है, आश्रय भी है। अब दोनों का स्पर्श हुआ। दोनों हाथों को आपस में रगड़ दीजिये तो आपको जलन मालूम पड़ेगी। वायु से अग्नि हो गयी और फिर दोनों हाथों को अलग कर दीजिये, हाथ में आपके पसीना आ जायेगा, तो अग्नि से जल हो गया। पसीने को थोड़ी देर बना रहने दीजिए थोड़ी देर बाद मैल बन जायेगा, मैल से पृथ्वी हो गयी। अब जब लौटता है, तो पृथ्वी जल में विलीन हो गई। सारा संसार जल ही जल। जल अग्नि में विलीन हो गया, केवल अग्नि रह गया। अग्नि वायु में विलीन हो गया, केवल वायु रह गया। वायु आकाश में विलीन हो गया, केवल आकाश रह गया और यह आकाश अपने अज्ञान में विलीन हो गया, अज्ञान ब्रह्म में विलीन हो गया तो फिर ब्रह्म ही रह गया।

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु । सब महाभूत अपने कारण में विलीन हो जाते हैं । काल वेग से व्यक्तिवेग । जब कालवेग से अव्यक्त हो जाता है तो - भवानेव शिष्यते । केवल आप ही अवशिष्ट रहते हैं । इसलिए आपही शेष हैं । इसको विस्तृत करने पर जितनी भी संज्ञाएँ हैं, सब आपकी ही हैं । क्योंकि आप ही सर्वरूप में बनते हैं और सब आप में ही विलीन होते हैं । इसप्रकार सब निषेध हो जाने पर, सबका बाध हो जाने पर, सबका विलय हो जाने के पश्चात् जो अवशिष्ट रहता है, उसी अवशिष्ट आत्मा को ब्रह्मरूप में महावाक्य हमें बोध कराते हैं । इसी का नाम साक्षात्कार या ज्ञान है, यह ज्ञान ही परसु है, ज्ञान ही शक्ति है -

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । वर विज्ञान कठिन कोदण्डा ।।

अब प्रश्न यह आता है कि ज्ञान और विज्ञान में अन्तर क्या है ? कुछ विद्वानों का यह मत है कि परोक्ष ज्ञान को ज्ञान कहते हैं और अपरोक्ष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं । परन्तु यहाँ पर ऐसा लगता है कि अपरोक्ष ज्ञान ही दो प्रकार का होता है, जिसमें संशय और विपर्यय हो, वह अदृढ़ ज्ञान अपरोक्ष होने पर भी ज्ञान है और वह जब संशयापत्ति होने पर ज्ञान हो जाता हैं, दृढ़ हो जाता है, तो वह बन जाता है विज्ञान । इसप्रकार ज्ञान तो हो गया, शक्ति और वर विज्ञान, जो भगवान् का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान है, वहिर्गम दण्ड, दिव्य धनुष फिर इसके बाद आता है -

अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।

अब आगे का प्रसंग कल अन्तिम दिन सुनाया जायेगा ।

श्रीराम जय राम जय जय राम ।
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ।

सप्तम दिवस

उपस्थित विद्वत् बंधुओं, देवियों और सज्जनों,

धर्मरथ का प्रसंग चल रहा था, भगवान् श्रीराम ने ऐसे रथ का वर्णन किया, जिसके १८ अंग थे। आप जानते है कि गीता में भी १८ अध्याय हैं और हमारे जो यज्ञ होते हैं। उनमें १६ ऋत्विक्, एक यजमान और यजमान पत्नी इन दो को मिलाकर १८ व्यक्ति होते हैं। यहाँ पर भी भगवान् श्रीराघवेन्द्रराम ने धर्मरथ के १८ अङ्गों का वर्णन किया, आप श्रवण कर रहे थें -

दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। वर विज्ञान कठिन कोदण्डा॥

दान परसु है, बुद्धि और ज्ञान प्रचण्ड शक्ति है और श्रेष्ठ विज्ञान कठिन कोदण्ड अर्थात् धनुष है। अब तरकस की भी आवश्यकता है, जिसमें बाण रहते हैं और रावण तो अपने तरकश में बाणों को रखकर लाया ही था। उसके रथ के पीछे सैकड़ों ऐसे बाण थे, जिनमें अस्त्र शस्त्र भरे थे और भगवान् राम के पास एक ही तूणीर था। जो अक्षय था, इस धर्मरथ में भी एक तूणीर है -

अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥

भगवान् कहते हैं, अमल अचल मन त्रोन समाना। ज्ञान विज्ञान के वर्णन के अनन्तर साधन का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य ज्ञान का अधिकारी तभी होता है, जब साधन सम्पन्न चतुष्टय हो - अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।

इस ब्रह्मसूत्र के अथ शब्द का अर्थ अनन्तर है। बड़ा शास्त्रार्थ है, इस पर कि अथ शब्द का क्या अर्थ किया जाये। कुछ लोगों ने कहा है कि इसका केवल मंगल अर्थ है -

ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः मुखात् ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्माद् माङ्गलिकावुभौ ॥

ॐकार और अथ, ये दो शब्द सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी के मुख से सर्वप्रथम निकले थे । इसलिए ये दोनों मांगलिक माने जाते हैं अथवा अथ शब्द इसलिए है कि यहाँ से अब ब्रह्म की जिज्ञासा प्रारम्भ हुई थी, तो विषय का निर्देश अथ शब्द करता है । 'अथ योगानुशासनम्' यहाँ पर भी यही माना जाता है । सिद्धान्त यही है कि अथ शब्द यहाँ अनन्तर का बोधक होते हुए भी मंगल कारक हो जाता है । कोई यात्रा कर रहा है । जलपूर्ण कलश उसके सम्मुख आ जाता है । उसका मंगल हो जाता है । यह आवश्यक नहीं है कि उसकी यात्रा सुसम्पन्न बनाने के लिए मंगल करने के लिये मंगल कलश लाया जाए । किन्तु जलपूरित घट मंगलार्थक हो जाता है । तो इस सन्दर्भ में उपनिषद कहते हैं कि -

शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः। शांत, दान्त तितिक्षु होकर आत्मा का ज्ञान प्राप्त करे, तो ऐसी स्थिति में साधन चतुष्ट्य सम्पत्ति होना बहुत आवश्यक माना जाता है और साधन चतुष्ट्य सम्पत्ति ज्ञान, वैराग्य, सर्वसम्पत्ति और मीमांसा ये चार बातें हैं । नित्यानित्य वस्तु का विवेक, पृथक्करण विवेक कहलाता है । अनित्य से वैराग्य, अनित्य को त्यागने की इच्छा, वैराग्य - शम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा और उपरति ये षट्सम्पत्ति कहलाते हैं । शम का अर्थ होता है मन का निग्रह, दम का मतलब होता है इन्द्रियों का निग्रह । गुरु, वेदान्त के वाक्यों में विश्वास श्रद्धा कहलाता है और चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं तथा समस्त शीतोष्ण सुख-दुःखों का बिना प्रतिकार किये, शोक और विलाप से रहित होकर, सहन करने को तितिक्षा कहते हैं और फिर इनके अनन्तर मोक्ष की ऐसी प्रबल इच्छा हो, जैसे किसी के बालों में आग लग जाये तो उसका एक ही उद्देश्य रह जाता है कि बालों की आग बुझाई जाये । इसीप्रकार मुमुक्षु के सामने एक ही उद्देश्य रहता है कि मैं संसार सागर से कैसे मुक्त होऊँ । इसका नाम

मुमुक्षा है । ये चार साधन जब मनुष्य के भीतर होते हैं, तब वह वेदान्त के श्रवण का अधिकारी बनता है। अधिकारी का अर्थ यह नहीं है कि हकदार । अधिकारी का अर्थ है योग्यता, वह ब्रह्म विज्ञान के योग्य तभी बनता है, जब वह इन साधनों से सम्पन्न होता है । गीता में भगवान् ने कहा है कि -

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।

भगवान् कहते हैं, मात्रा और स्पर्श । मात्रा का अर्थ शब्दादि विषय, और स्पर्श का अर्थ है इन्द्रियाँ अथवा मात्रा का अर्थ है इन्द्रियाँ, स्पर्श का अर्थ है विषय - नियमतेति मात्रा विषयाः स्पर्शा अनेन । इसप्रकार इनकी व्युत्पत्ति होकर मात्रा का अर्थ विषय हो जायेगा । इधर स्पर्श का अर्थ इन्द्रिय हो जायेगा या जिनका स्पर्श किया जाय, वह विषय और जिनके द्वारा मापा जाये, वे इन्द्रियाँ । दोनों ही प्रकार से इन्द्रियों और स्पर्श के संयोग से प्राणी को सुख दुःख की संवेदना होती है । वे विषय सुख दुःख को देने वाले आगम और अपाय वाले हैं, जो स्वयं ही अनित्य हैं । इसलिए हे भारत! तुम उनको सहन करो । सुख दुःख को समान भाव से सह लेने का क्या फल होगा ? भगवान् ने बताया - हे पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन! ये व्यथित नहीं करते । जो धीर है, सुख और दुःख में समान है, अमृतत्त्व को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है । तो तितिक्षा यहाँ पर भगवान् प्राप्ति के योग्य बनाती है । क्योंकि इसके समान कोई साधन संसार में नहीं है । वस्तुस्थिति यह है कि हम वही काम करते रहते हैं, प्राप्ति परिहार इसी में लगे रहते हैं । जो हमारे अनुकूल हैं, उसे प्राप्त करना चाहते हैं । उसका प्रयत्न करते हैं। मनुष्य अपने जीवन में यही तो करता है । गर्मी लगी तो पंखा चलाया, और ठण्ड लगने लगी तो पंखा बुझाया । जिससे प्यार है उसको मिलने के लिए बुलाया, जिससे नफरत है, उसको भगाया । तो संसार में मनुष्य यही

करता है । सिवाय इसके दूसरा काम ही नहीं है । जब हम इस काम में लगे रहेगें, प्राप्ति-परिहार के चक्र में पड़े रहेगें, तो आत्म विचार कब करेंगे? इसलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि इनकी ओर से निरपेक्ष हो जाओ, इनको समान भाव से देखने लग जाओ । जो आगमापायी है, अनित्य है, इनको सह लो, तो तुम इसके आत्म विचार करने के अधिकारी बनोगे । इसप्रकार मनुष्य के भीतर साधन सम्पत्ति होना आवश्यक है । कुछ लोगों का कहना है कि चित्त शुद्धि तभी है, जब परमात्मा प्राप्त हो जाय और हम पहले शर्त लगा देते हैं कि बिना चित्त की शुद्धि के परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती तो फिर कब होगी । यह तो अनन्योन्याश्रय हो गया । इस पर यह कथन है कि कुछ अनन्योन्याश्रय चित्त की शुद्धि पहले आवश्यक है ही । ऐसा न होने पर आपका मन आपको विचलित कर देगा । आप बैठ ही नहीं सकते एक स्थान पर । न आप सुन सकते, न उस पर मनन कर सकते हैं । फिर उसके बाद पूर्ण शुद्धि चित्त की भगवत तत्त्व की विज्ञान से होगी । इसमें कोई संदेह नहीं, यह पूर्ण सत्य है । इसलिए स्थितप्रज्ञ की परिभाषा में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा -

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

जब प्राणी निराहार हो जाता है विषयों का त्याग कर देता है, तब विषय तो छूट जाते हैं लेकिन उनके प्रति प्रेम है, रस है, वह छूटता नहीं है । परन्तु परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर वह रस भी छूट जाता है । मन में जो सूक्ष्म वासनाएँ हैं, वे भी नष्ट हो जाती हैं, तो उन सूक्ष्म वासनाओं का नाश पूर्ण रूप से तभी होगा, जब ब्रह्म साक्षात्कार होगा । परन्तु प्रारंभ में अनर्तमुक्ता मानी जाती है । इसलिए चित्त का संशोधन परमात्मा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है । परमात्मा यद्यपि बहुत ही निकट है, इतना निकट है कि उसको निकट कहना भी दूर करना है । इसलिए उसकी प्राप्ति में कोई बिलम्ब भी नहीं है । कहा गया है कि फूलों को मसल

देने में भले ही देर हो जाये और भले ही नेत्रों के निमीलन में देर हो जाय, लेकिन परमात्मा के दर्शन में देर नहीं । कबीर ने कहा है कि -

जब लगि लौका लौके भाई । तब तक हंसा लौके जाई ।।

इसका अर्थ यह है कि जितनी देर में बिजली चमक के शांत हो जाती है, उतनी ही देर में ये हंस अपने लोक में चला जाता है । परन्तु परमात्मा इतना निकट होते हुए भी हमसे दूर क्यों हो गया? मारवाड़ी में कहावत है - नहीं नेडे नहीं दूर । परमात्मा के बारे में कहा है कि परमात्मा नहीं नेडे नहीं दूर । वह बहिर्मुख हैं, आश्रय सम्मत के लोग हैं, उनके निकट नहीं, लेकिन जो अन्तर्मुख हैं, वे परमात्मा के भक्त हैं । उनके लिए वह दूर नहीं हैं और वस्तुत: जिन्होंने परमात्मा को जान लिया, उनके लिए नही नेडे नहि दूर । न तो वह निकट हैं, न दूर हैं । अपने से भिन्न को ही निकट और दूर कहते हैं । जो अपना स्वरूप ही है, उसे क्या निकट और क्या दूर कहें । यह स्थिति उनकी हो जाती है । भगवान् राम के सम्बन्ध में एक कथा आती है - विश्वामित्र जी यज्ञ कर रहे थे, वहाँ मारीच, सुबाहु यज्ञ में बाधा डालने लगे । तो उन्होंने सोचा - मारीच, सुबाहु को हम शाप देकर भी रोक सकते हैं । लेकिन मन में विचार किया कि इससे हमारे तप का क्षय होगा । क्रोध करने से तपस्या क्षीण होती है और कितनों पर क्रोध करेंगे, राक्षस तो असंख्य हैं । इसलिए उनके मन में चिंता हुई और उन्होंने निश्चय किया -

गाधिसुवन मन चिंता व्यापी । हरि विन मरहि न निसिचर पापी ।।

बिना भगवान् के ये नहीं मरेंगे, तो भगवान् का इस समय अवतार हुआ है, राजा दशरथ के पुत्र के रूप में । उनके द्वारा मारीच सुबाहु को मरवाकर यज्ञ की रक्षा करें । ऋषियों का दु:ख दूर करें । विश्वामित्रजी अयोध्या गये । राजा दशरथ ने सुना कि विश्वामित्र जी पधारे हैं । बड़े प्रसन्न हुए । वही विश्वामित्र जी है, जो महाराज दशरथ के पूर्वज हरिश्चन्द्र से सारा राज्य ले चुके थे । स्वप्न में दिया हुआ राज्य प्राप्त किया था । ये पुन: पधारे हैं । महाराज ने देखा, इनका दर्शन बड़ा दुर्लभ है । बड़े भाग्य की

बात है कि ये हमारे यहाँ आये, तो उनकी आगवानी की । बड़े आदर से अपने ही सिंहासन पर बैठा दिया और कहने लगे भगवन्! यह सिंहासन आप का ही है । हम आपके सेवक हैं । पाद्य, अर्घ्य आदि से उनका सत्कार करके पूछा दशरथ जी ने - **किन कारण आगमन तुम्हारा ।** भगवन् बतलाइये आपका शुभ आगमन किस उद्देश्य से हुआ है ? जो भी आपकी आज्ञा हो आज शिरोधार्य करूगाँ । यह सब आपका ही है । विश्वामित्र जी बड़े प्रसन्न हुए । सोचा काम तो बन जायेगा । दशरथ बड़ी श्रद्धा से बोल रहे हैं, तो विश्वामित्रजी ने महाराज दशरथ से कहा -

असुर समूह सतावहिं मोही । मैं जाचन आयउँ नृप तोही ।।
अनुज समेत देहु रघुनाथा । निसिचर बध मैं होब सनाथा ।।

राजन्! असुर समूह मुझे सताते हैं, इसलिए मैं तुम्हारे पास याचना करने के लिए आया हूँ । महाराज - आज्ञा दीजिये । अनुज समेत देउ रघुनाथा । अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित राम को दे दो, तो मैं इनके द्वारा निसिचरों को मरवाकर कृतार्थ हो जाऊँगा । जैसे ही विश्वामित्रजी ने राम और लक्ष्मण को देने के लिए कहा । दशरथ जी का हृदय पलट गया । इन्होंने बुरा प्रश्न कर दिया, मन में बड़ा दु:ख हुआ और कहने लगे महाराज -

चौथेपन पायउँ सुत चारी । विप्र वचन नहिं कहेऊ बिचारी ।।

हे विप्र ! पहले तो बड़े आदर से बोलते थे । जब माँग लिये, राम लक्ष्मण तो कहने लगे आप तो विप्र हैं महाराज । ब्राह्मण बड़े निर्दयी होते हैं । कुछ भी माँग लेते हैं । चौथेपन में मैंने चार पुत्र प्राप्त किये हैं, आपने विचार नहीं किया । आप जरा और सोच के बोलो -

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा । सर्बस देउँ आजु सहरोसा ।।
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं । सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ।।

महाराज भूमि माँग लो, गऊ माँग लो, खजाना माँग लो, आज आप मुँह से कह भर दो, मैं सब दे दूँगा और महाराज संसार में सभी को देह से प्रेम होता है, प्राण से प्रेम होता है, लेकिन आज आपको देह और प्राण

भी देने में मुझे जरा भी संकोच नहीं होगा । आपके कहने मात्र से एक क्षण में आपको दे दूँगा । भगवान् ने कहा प्राण देने को तैयार हो । हाँ महाराज! प्राण भी दे दूँगा । बहुत दुःख हुआ था दशरथ जी को, राम को नहीं छोड़ना चाहते थे । राम से बड़ा प्रेम था । वाल्मीकि रामायण में आता है कि - राजा दशरथ ने कहा कि हमारा राजीव लोचन अभी १५ साल का है । महाराज जब आप मारीच, सुबाहु की बात करते हो, उनसे तो मैं भी लड़ सकता हूँ, ये छोटे-छोटे सुकुमार बालक कैसे लड़ेगें? आप कैसे माँग रहे है ?

देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं । सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ।।
सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं । राम देत नहिं बनइ गोसाईं ।।

महाराज! सभी पुत्र हमें प्राणों के समान प्रिय हैं लेकिन राम को देते नहीं बनता । विश्वामित्र ने उनसे पूछा कि जब प्राण देने के लिए तैयार हो, तो प्राणों के समान पुत्र देने में क्या संकोच है । प्राण के समान पुत्र ही दे दो । पुत्र भी दे सकता हूँ, लेकिन **राम देत नहीं बनई** राम तो दिये ही नहीं जा सकते, ये प्राणों के भी प्राण हैं, ये तो आत्मा हैं । क्या आत्मा भी किसी को दी जा सकती है महाराज! अपने आपको कोई दे भी नहीं सकता और ले भी नहीं सकता । न आत्मा देय है, न उपादेय है । राम तो दिये ही नहीं जा सकते, यह राम का स्वरूप है । राम अपनी अन्तरात्मा हैं । इसलिए उन्हें प्राप्त करने में जरा भी विलम्ब नहीं है । भगवान् इतने निकट हैं कि उनको दूर किया ही नहीं जा सकता है । जो अपना स्वरूप ही हो, उसे हम कैसे निकट कहें और कैसे दूर कहें । तो ऐसी स्थिति में परमात्मा की प्राप्ति इतनी दुर्लभ, इतनी कठिन क्यों हो गयी ? क्यों संसार परमात्मा की प्राप्ति से वंचित है? वस्तुस्थिति यह है कि अत्यधिक निकटता भी दर्शन में बाधक बन जाती है । उदाहरण के लिए समझ लीजिए कि हम दूरबीन के सहारे चन्द्रमा को देख सकते है । कलकत्ता की या बम्बई की बहुत ऊँची इमारत पर खड़ें हो जायँ तो पूरे कलकत्ते को देख सकते हैं और उसके पार भी देख सकते हैं, उन्हीं आँखों से । लेकिन आँखों के काजल

को आँख से नहीं देख सकते । क्योंकि आँख का काजल आँख के बहुत निकट है और जब आँख के काजल को आँख से नहीं देख सकते तो आँख से आँख को देखना और भी कठिन है । फिर आँख से मन को देखना तो और भी कठिन है क्योंकि मन तो आँख से और भी निकट है और जब मन को नहीं देख सकते, तो मन से भी निकट बुद्धि को देखना और भी कठिन हो गया और बुद्धि को नहीं देख पाते तो बुद्धि के निकट आत्मा को देखना तो और भी कठिन बात है । देखें, यह निकटता हमारे लिए कैसे बाधक बन रही है । बुद्धिमान् लोग कहते हैं कि यदि आँख का काजल आँख से देखना हो तो सामने शीशा रख लो । शीशे के सहारे आप आँख से काजल देख सकते हैं । बात तो कुछ बनी कि शीशे के सहारे मनुष्य निकट की वस्तु को देख सकता है । पर ऐसा कोई शीशा हमको मिले जो हमको आत्मा का दर्शन करा दे । तो यहाँ काँच के शीशे से काम नहीं चलेगा । यह तो हमारे केवल पञ्चमहाभूत के स्थूल शरीर को ही दिखा सकता है । इससे हम अपने अन्त:करण को कभी नहीं देख पाते । कबीर ने कहा है -

मुखड़ा क्या देखे दर्पण में । तेरे दया धरम नहीं तन में ।।

दर्पण में तू अपना मुखड़ा ही तो देख रहा है । अपने अन्त:करण को तू दर्पण के सहारे कैसे देख सकता है । इसके लिए तो आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता है । अन्तर्मुखता की आवश्यकता है । तो वह कौन सा दर्पण है, जिसके सहारे हम आत्मदर्शन कर सकते हैं । वह दर्पण है हमारा निर्मल मन - **निर्मल मन जन सो मोहि पावा** । भगवान् श्रीराम कहते हैं कि निर्मल मन का प्राणी मुझे प्राप्त कर लेता है ।

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना । राम रूप देखहिं किमि दीना ।।

भगवान् शङ्कर कहते हैं, जिनका मन रूपी मुकुर मलिन है और विवेक नेत्रों से जो रहित हैं, वे दीन राम के रूप को कैसे देख सकते हैं । मुकुर पहले बनाया जाता था - लोहे का । मुकुर को इतना साफ किया जाता था कि उसमें अपना मुँह दिखलाई पड़ जाता था । अब तो काँच से काम

चलाया जाता है । पहले मुकुर बनता था । पर इस मुकुर में दोष यह था कि उसमें जंग लग जाती थी, काई लग जाने पर वह साफ नहीं रहता था, फिर उसमें मुख भी साफ नहीं दिखलाई पड़ता था । तो **काई विषय मुकुर मन लागी** मनरूपी मुकुर में विषयरूपी काई लग गई हो, तो इससे आत्मा का दर्शन नहीं हो पाता । इसलिए मन का सर्वथा निर्मल होना, विषयरूपी काई से रहित होना आवश्यक है । मन की निर्मलता क्या है? यह समझने की बात है। हमारे शरीर में यदि मैल लग जाय तो पानी से धोकर उसको छुड़ा सकते हैं । कपड़ों में मैल लग जाय, तो साबुन और पानी से छुड़ा सकते हैं । लेकिन मन का मैल क्या है ? पहले मन का मैल क्या है, यदि यह स्वयं समझ में न आये तो हम उसके हटाने के साधन कैसे समझे? मन में विषयों की आशा है, मन में वासना है, इसी का नाम मैल है । पापवासना, विषयवासना, इसी को मल कहते हैं । इस मल से जो रहित है, उसी मन को हम निर्मल कह सकते हैं । गोस्वामी तुलसीदासजी ने बतलाया है कि -

जानहि मन निर्विघ्न गुसाई । जब उर बल विराजै अधिकाई।।
सनहु क्षुधा बाढइ नित नई, विषय आस गुर तर बल गई ।।

विषय की आशारूपी दुर्बलता यह हो गई बल और मनुष्य का विरक्त हो जाना, इसी का नाम मन की निरोगता है । इसप्रकार का मन अनल, किसी प्रकार की मन में वासना न हो, तब परमात्मा का दर्शन होता है और साथ ही साथ अमल होने के साथ-साथ अचल भी होना चाहिए, निश्चल होना चाहिए । यह माना जाता है कि कुछ वेदान्त के अधिकारी, जिज्ञासु कृतोपासती होते हैं और कुछ अकृतोपासती होते है । कृतोपासती उसे कहते हैं, जिन्होंने सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार उपासना के द्वारा प्राप्त कर लिया है। तो कृतोपासती सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने से उनका अन्तःकरण समाधिस्थ हो चुका है । उन कृतोपासती अधिकारी को केवल श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुखारबिन्द से शोधित पदार्थों की एकता के बोधक

महावाक्यों के श्रवणमात्र से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है । एक क्षण का भी हमको बिलम्ब नहीं लगता । लेकिन जो अकृतोपासती हैं, जिनका चित्त अभी चंचल है, मलिन है । मन में भगवान् का आराधन किया ही नहीं है । बिना भगवान् की आराधना के मन की मलिनता दूर नहीं होती । इसलिए गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में कहा है कि -

रघुपति-भगति-बारि-छालित-चित, बिन प्रयास ही सूझै ।
तुलसीदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ।।

रघुपति भगति वारि छालित चित, भगवान् की भक्ति जल से छालित जा चित्त है, उस चित्त में परमात्मा बिना प्रयास के ही सूझ जाता है और यह जगत् चिद्विलास है । चैतन्य का विलास है । चैतन्य और दूसरी वस्तु कहीं है, यह सूझत-सूझत सूझै । अपने आप उसको सूझ जाता है कि ब्रह्म को छोड़कर दूसरी वस्तु है ही नहीं । सारा संसार ब्रह्ममय है । ब्रह्ममय क्या है ? **परमो खल्वहं ब्रह्म वासुदेवः सर्वमिति ।** वासुदेव ही हैं सब कुछ यहाँ । वासुदेव शब्द का अर्थ है, जिसमें सब प्राणी वास करें । उसका नाम वासु और देवा: यह ज्योत्स्नात्मक प्रकाश राम स्वरूप है । यह जो वास्तु है अर्थात् शब्द का अधिष्ठान है और मानुष प्रकाश तो सर्वाधिष्ठान सर्वप्रकाश परमपिता परमात्मा ही सर्व है । उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं । उस परमात्मा के बिना कोई दूसरी वस्तु की सत्ता ही नहीं है । इसप्रकार जिसकी धारणा है - महात्मा सुदुर्लभः । ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है । भगवान् का दर्शन उसी को होते हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति से अपने मन का मैल दूर कर लिया है ।

जब भगवान् के चरणकमलों की प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा जो कि भक्ति से होने वाले कर्म, मन से होने वाले मलों का, दोषों का परिहार हो जाता है, तो मन सर्वथा शुद्ध हो जाता हैं । उस मन में निर्मल नेत्रों से सूर्य का स्पष्ट दर्शन होता है । उसी प्रकार परमात्मा तत्त्व का दर्शन होता है ।

अचल अमल मन त्रोन समाना । एक बार मन को समाधिस्थ बनाना पड़ेगा । तब जाकर परमात्मा का दृढ़ अपरोक्ष होता है । निर्विकल्प समाधि के द्वारा दृढ़ रूप से जिन पुरुषों को ब्रह्मतत्त्व का बोध होता है । तब तक मन चञ्चल होता है। तब तक दूसरी मिथ्याओं से वह मिल जाता है । इसलिए एक बार मन का पूर्णरूप से शान्त, निर्विकल्प होना आवश्यक है। कहते हैं कि एक नदी के प्रवाह के नीचे नदी तल में एक चट्टान में दिव्य मणि थी । लोगों ने उस नदी की धारा को रोक दिया । धारा रुकी, तो वह चट्टान दिखने लगी और मणि स्पष्ट दिखाई पड़ गई । फिर उसके बाद धारा चल पड़ी । महात्मा के मन में संदेह नहीं हुआ कि मणि है कि नहीं । इसीप्रकार जो चित्त की धारा चल रही है । घटाकार, पटाकार, मठाकार, इस धारा का जब विच्छेद हो तो इसके तल में ब्रह्म चेतन है, उसका अनुभव हो, उसका साक्षात्कार हो।

मन को शान्त बनाया जाता है, अचल बनाया जाता है तब उसको आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है और वैसे गुरु की कृपा हो जाय तो - **कवच अभेद विप्र गुरु पूजा** कहा । जिससे आत्मतत्त्व की अनुभूति सहज में हो जाय । आप समाधि लगायें, बहुत दिनों तक लगायें, लेकिन अगर आप चाहें तो सत्संग से बहुत जल्दी आत्मतत्त्व की अनुभूति हो जाएगी । किसी कवि ने कहा है कि -

सत्सङ्ग की आधी घड़ी, सुमिरन वर्ष पचास ।
वर्षा की एकहि घड़ी, पुरवर वारह मास ।।

पुरवर के द्वारा बगीचें को बारह महीने सीचों, जितना लाभ नहीं होगा उतना एक ही घड़ी की ऊपर की बरसा से हो जायेगा । उसीप्रकार कोई पचास वर्ष सुमिरन करे, लेकिन आधी घड़ी का उसे सत्संग मिल जाय तो उसी से उसका काम बन जायेगा । महात्माओं का कथन है कि मनुष्यों का मन प्रतिक्षण निर्विकल्प होता है । इसके लिए लम्बे समय तक साधन की

आवश्यकता नहीं है । थोड़ा सा ध्यान देना है, अन्तर्मुखता थोड़ी सी हो -

नष्टे पूर्वे विकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः।
निर्विकल्पकचैतन्यं कष्टं तावन्न भासते ।।

पूर्व विकल्प का नाश हो गया, उत्तर विकल्प का प्रारम्भ नहीं हुआ । उस मध्य में निश्चितरूप से ब्रह्म चैतन्य का प्रकाश होता है । तो समझ लीजिए घटाकार वृत्ति उठी और समाप्त हुई । पटाकारवृत्ति अभी प्रारम्भ नहीं हुई, उस मध्य में चित्त न घटाकार है, न पटाकार है । इस समय निर्विकल्प है । कागभुसुण्डि जी से प्रश्न किया गया कि आप इतने चिरंजीवी कैसे हैं? उन्होंने कहा कि मैं उस चित् आत्मा की उपासना करता हूँ जो प्राण और अप्राण के मध्य में रहता है -**प्राणापानयोर्मध्ये चिदात्मानं उपास्महे** । प्राण अप्राण के मध्य में जो चिदात्मा है, मैं उसी की उपासना करता हूँ । यह प्राण और अप्राण क्या है? श्वास खींचना प्राण और प्रश्वास छोड़ना अप्राण । तो प्राण लिया, श्वास खींची तो प्राण वृत्ति हो गयी । प्राण का विकल्प हो गया और प्राण समाप्त हुआ, छोड़ना प्रारम्भ नहीं किया तो इनके बीच में प्राण होना अप्राण । इसीप्रकार प्राण छोड़ा, अप्राण छोड़ा, श्वास बाहर किया और भीतर लेना प्रारम्भ नहीं किया, उसके मध्य में यह सूक्ष्म सन्धि है । इसीसमय मन पूर्णरूप से निर्विकल्प रहता है । इस निर्विकल्प अवस्था में आत्मा का अनुभव हो जाता है । इसतरह अमल अचल मन को ब्रह्म चिन्तन से एकाग्र बनाओ । यही त्रोण है । सम जम नियम सिलीमुख नाना। यह नियम उस अन्तःकरण से अपने आप निकलते हैं । जो अन्तःकरण निर्मल और अचल होता है । जिस मन में मलिनता होती है, उस मन से कोई चाहे कि हम नियमों का पालन कर सकें तो नहीं हो पायेगा । जिस मन में निश्चलता नहीं होती, वह कभी एक जगह बैठता ही नहीं । कोई एक बात ठिकाने से सुनता ही नहीं । हमने ऐसे लोगों को देखा है जो बहुत विद्वान् हैं, बहुत पढ़े लिखे हैं लेकिन जब उनसे कोई चर्चा होती है, बात छेड़ तो देते हैं किन्तु उत्तर देने लगते हैं तो दूसरी ही बात

कहने लग जाते है । उनका एक विषय में मन स्थिर होता ही नहीं। जब तक मन एक विषय में स्थिर न हो, तब तक हम बात की गहराई तक कैसे पहुँचेंगे और इस बात को हम कैसे हृदयङ्गम कर सकेंगे? इसलिए इसप्रकार के मन की आवश्यकता है -

अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।

और अन्त में कवच की बात आयी अभेद्य कवच । रावण का कवच भेद्य है, जोरों का बाण लगेगा तो कवच कट जायेगा । लेकिन जो कवच मेरे पास है वह अभेद्य है । क्या है, वह अभेद्य कवच - विप्र, गुरु पूजा, विप्र चरण सिर नावा । वन चले तो वसिष्ठ जी के चरणों में सिर झुकाये। उसीप्रकार वन में आये, तो वहाँ ऋषि-मुनियों के आश्रम में जाकर उनको प्रणाम किया । भगवान् का यही अभेद्य कवच है । विप्र हो, ऊपर से गुरु । मतलब है 'गु' माने अन्धकार 'रु' माने ज्ञान का प्रकाश । ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान के अन्धकार को दूर कर दें, उसका नाम गुरु । ऐसे गुरु अगर मिल जायें, तो उनके सत्संग से एक क्षण में मनुष्य का भवसागर छूट सकता है। भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा कि -

क्षणमपि सज्जनसङ्गतिरेका । भवति भवार्णवतरणे नौका ।।

क्षणमात्र की सत्संगति संसार समुद्र से पार करने वाली नाव बन जाती है। यह बात सहसा समझ में नहीं आती । जब तक कुछ काल सत्संग नहीं होता। कुछ काल सत्संग करने से भी लाभ होता है । ये तो कुछ काल कह रहे हैं, क्षण भर में क्या हो सकता है । आप एक दृष्टान्त से समझ लीजिए -

आप अपने घर में आनन्द से सो रहे हैं । परन्तु स्वप्न में देखते हैं कि नदी में बाढ़ आ गयी, इतनी बाढ़ आयी कि घर डूबने लगा । गाँव डूब गया। पशु बह रहे हैं और सारा संसार जलमग्न हो गया । हम भी डूबते जा रहे हैं। आप स्वप्न में चिल्ला रहे हैं - नाव लाओ, नाव लाओ । मीलों दृष्टि डालने

पर भी नाव कहीं दिखाई नहीं दे रही है । आप के मन में भय उत्पन्न हो जाता है कि हम जल में डूब कर मरने जा रहे हैं । सहसा कोई आकर कहता है, उठो, एक क्षण में आप उठते हैं, तो देखते हैं हम तो आनन्द से बिस्तर पर सोये हैं । बाढ़ का कोई पता नहीं है । तो क्षण भर में वह बाढ़ का दुःख दूर हुआ कि नहीं । इसीप्रकार गोस्वामी जी ने एक उदाहरण दिया -

जो सपनेहुँ सिर काटेहु कोई । बिनु जागे दुःख दूर न होई ।।
जासु कृपा सो भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ।।

जैसे स्वप्न में हमारा सिर कट जाय, कोई हमारा सिर काट ले, हम समझ रहे हैं कि हम मर गये । हमारे परिवार के लोग हमारे वियोग में विलाप कर रहे हैं । हमारे शरीर को अर्थी पर रखकर श्मशान ले जाया गया । चिता में रखकर जला दिया गया । हाय, हम तो संसार से निकल गये, मारे गये । मन में सोच रहे हैं लेकिन पास में सोया हुआ दूसरा व्यक्ति थोड़ा सा धक्का देता है, आँखें खुल जाती है । तो देखते हैं कि हमारा शरीर सही सलामत है । तो जिसने हमें धक्का देकर जगाया - **जासु कृपा सो भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ।।** जिसकी कृपा से यह भ्रम मिट जाता है, वही कृपालु रघुराई हैं । हमारे यहाँ यह माना जाता है कि गुरु और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है । गुरु में मनुष्य बुद्धि करनी ही नहीं चाहिए और जो गुरु में मनुष्य बुद्धि करता है, उसका सब साधन निष्फल हो जाता है । हाथी स्नान जैसा हो जाता है ।

कवच अभेद विप्र गुर पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।

यह ऐसा रथ है, जिसमें बैठने पर शत्रु रहता ही नहीं है । शत्रु रहे, तभी तो मारें । कितनी बड़ी बात है, और रथों में तो बैठकर शत्रु पर प्रहार करना पड़ता है लेकिन यह ऐसा रथ है, जिसपर बैठने से जीतन कहँ न

कतहुँ रिपु ताकें । कोई शत्रु रह ही नहीं जाता । अपने से भिन्न रावण कहाँ है । सिवाय एक आत्मा के कुछ शेष रह ही नहीं जाता, तो ऐसे धर्मरथ पर आरुढ़ होकर किसको मारें । ऐसे धर्मरथ का वर्णन भगवान् ने विभीषण के सामने किया । विभीषण भगवान् के साधक भक्त माने जाते हैं । तीन प्रकार के भक्त होते हैं - विषयी, साधक, सिद्ध । सुग्रीव विषयी है, विभीषण साधक है, निषादराज सिद्ध है । यहाँ साधक भक्त को भगवान् श्रीराम ने उपदेश दिया । जब युद्ध का अवसर था, तो विभीषण भगवान् के चरणकमलों में गिर पड़े और कहा महाराज! रथ के द्वारा आपने हमको अध्यात्मज्ञान से धन्य कर दिया । मैं कृतार्थ हो गया ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ।।

जैसे अर्जुन ने कहा था । इसीप्रकार कहकर विभीषण ने भगवान् को प्रणाम किया । हम लोगों का यह सात दिन का सत्सङ्ग आनन्द से चला । हमें हार्दिक सन्तोष है, हम सभी को तरन तारन बनना चाहिए । यही कहकर हम प्रवचन को विराम देते हैं ।

श्रीराम जय राम जय जय राम ।
गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ।

ॐ